– श्रीराम शर्मा आचार्य

संस्मरण जो भुलाए न जा सकेंगे

लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनर्मुद्रित सन् २०११ मूल्य : ३०.०० रुपये

संस्मरण-सूची

मुद्रक

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-३

संस्मरण जो भुलाए न जा सकेंगे

प्रेमी हृदय का मार्ग

घृणा, विद्वेष, चिड़चिड़ापन, उतावली, अधैर्य, अविश्वास— यही सब उसकी संपत्ति थे। यों कहिए कि संपूर्ण जीवन ही नारकीय बन चुका था, उसके बौद्धिक जगत में जलन और कुढ़न के अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं था। सारा शरीर सूखकर काँटा हो गया था। पड़ोसी तो क्या, पीठ पीछे मित्र भी कहते—स्टीवेन्सन अब एक-दो महीने का मेहमान रहा है; पता नहीं, कब मृत्यु आए और उसे पकड़ ले जाए?

विश्वविख्यात कवि राबर्ट लुई स्टीवेन्सन के जीवन की तरह आज सैकड़ों-लाखों व्यक्तियों के जीवन मनोविकारग्रस्त हो गए हैं, पर कोई सोचता भी नहीं कि यह मनोविकार शरीर की प्रत्येक जीवनदायिनी प्रणाली पर विपरीत प्रभाव डालते हैं। रूखा-सूखा, बिना विटामिन, प्रोटीन और चरबी के भोजन से स्वास्थ्य खराब नहीं होता; यह तो चिंतन, मनन की गंदगी, ऊब और उत्तेजना ही है जो स्वास्थ्य को चौपट कर डालती है, शरीर को खा जाती है।

उक्त तथ्य का पता स्टीवेन्सन को न चलता तो उसकी निराशा भी उसे ले डूबती। पता नहीं अंत क्या होता? यह तो अच्छा हुआ कि उसमें बुद्धि से काम लेने की योग्यता थी, सो जैसे ही एक मनोवैज्ञानिक मित्र ने उन्हें यह सुझाव दिया कि आप अपने जीवन में परिवर्तन कर डालिए। कुछ दिन के लिए किसी नये स्थान को चले जाइए, जहाँ के लोग आपसे बिलकुल परिचित न हों। फिर उन्हें अपना कुटुंबी मानकर आप प्रेम, आत्मीयता, श्रद्धा, सद्भावना और उत्सर्ग का अभ्यास कीजिए। आपके जीवन में प्रेम की गहराई जितनी बढ़ेगी, आप उतने ही स्वस्थ होते चले जाएँगे; यही नहीं

आपका यह अब तक का जीवन जो नारकीय बन चुका है, स्वर्गीय आभा में परिवर्तित हुआ दिखाई देगा।

प्रेम संसार की सृजनात्मक सत्ता है। प्रेम से प्रिय, मधुर और उल्लासवर्द्धक संसार में कुछ नहीं, जिसने प्रेम करना सीख लिया, उसका सूना, उजड़ा और दैन्य-दारिद्रय से ग्रसित जीवन भी हरा-भरा हो गया। यह कथा इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

तब श्री स्टीवेन्सन ने थोड़ा सा सामान, कुछ पैसे लिए और समोआ द्वीप में जा बसे। पहला दिन, पहला अभ्यास प्रेम का। जिससे भेंट हुई स्टीवेन्सन का हाथ नमस्कार के लिए पहले उठा, कोई घर आया, वह चाहे कुली ही रहा हो, ऐसा नहीं हुआ कि वह स्टीवेन्सन के साथ बैठकर चाय पिये बिना चला गया हो, छोटे-छोटे बच्चे रात बेचैनी में काटते, सबेरा होते ही स्टीवेन्सन का दरवाजा खटखटाते और बाहर से ही पूछते—अरे यार लुई! तुम अब तक सोए पड़े हो, कब से खेलने के लिए खड़े हैं, आओ बाहर देखो न कितने लोग आ गए हैं?

स्टीवेन्सन अँगड़ाई लेकर उठते और कमरे का द्वार खोलकर बाहर आते, बच्चों में ऐसे घुल-मिल जाते कि उन्हें पता भी नहीं चलता कि द्वीप के दूसरे वयस्क प्रौढ़, वृद्ध, स्त्री-पुरुष भी वहाँ आ पहुँचे हैं। स्टीवेन्सन उन्हें मीठी-मीठी कहानियाँ सुनाते, अपने और महापुरुषों के जीवन के संस्मरण सुनाते, बीच-बीच में कोई शिक्षात्मक बातें भी कहते जाते, उसका प्रभाव यह होता कि दिनभर लोग कथा के आनंद में झूमते रहते और अपने जीवन की थोड़ी-बहुत बुराइयाँ होतीं, उन्हें निकाल डालने के संकल्प बाँधते। स्टीवेन्सन का स्वास्थ्य तब कोई देखता तो यही कहता—झूठ। यह स्टीवेन्सन नहीं, स्टीवेन्सन के शरीर में किसी देवात्मा ने प्रवेश कर लिया है।

पर सचमुच यह वही स्टीवेन्सन था, जिसने अपने प्रेम से समोआवासियों को संगठित कर, बंदरगाह से नगर तक के ऊबड़-

खाबड़ असमान रास्ते को समान चौरस तथा पक्का करा दिया, प्रश्न उठा उस सड़क का नाम क्या हो? तब सब एक स्वर में बोल उठे—'प्रेमी हृदय का मार्ग'। अब तक भी इस सड़क का यही नाम है। स्टीवेन्सन इस दुनिया में नहीं होंगे, तब भी यह सड़क उसकी इस प्रेमोपलब्धि की गाथा गाती रहेगी।

❑

सबसे बड़ी पराजय का दिन

पेरिस संसार का सबसे खूबसूरत शहर माना जाता है—सौंदर्य या नग्न संस्कृति के लिए। और कुछ तो हम नहीं कह सकते; पर जिस दिन हम उस शहर की धरती पर उतरे थे, उससे मोहित हुए बिना न रह सके। जी भरकर उसे देखा। एक ही स्थान को कई बार देखा, फिर भी आकर्षण कम न हुआ। हमारे अमेरिकन मित्र—टामसन रिचे, जिनके साथ हम विशेष अध्ययन के लिए मिशीगन जाते हुए यहाँ ठहरे थे, हमारे साथ ही थे। उन्होंने ही सारा शहर भलीभाँति घुमाया। अंत में उनका आभार मानते हुए कहना ही पड़ा—"मित्र! आखिर आपकी कृपा से विश्व के इस अद्वितीय सौंदर्य को समीप से देखने का सौभाग्य सफल हो गया।"

आशा की थी कि इस आभार-प्रदर्शन से मित्र महोदय प्रसन्न होंगे। हम इतने आदर्शवादी हो गए हैं कि बात-बात में प्रशंसा करने लगते हैं, इससे संभव है हमें झूठा आत्मसंतोष तो मिल जाए, पर अति आदर्शवाद का अर्थ है—यथार्थता से विमुख होना। संसार में अनेक प्रकार की सुंदर-से-सुंदर वस्तुएँ हैं, पर हम किसी एक सौंदर्य पर ही इतना आसक्त हो जाते हैं कि सृष्टि की अन्य सुंदरताओं की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। हम समझते हैं, आज का संपूर्ण भौतिकवादी समाज ज्ञान की इस संकीर्ण कोठरी में बंद है। परमात्मा की सृष्टि कितनी विशाल! कितनी शोभायुक्त और दर्शनीय!! उसका अवलोकन करने के लिए जिस बंधन-मुक्त

आत्मा की जरूरत है, उधर हमारा ध्यान ही नहीं जाता, क्योंकि हम आसक्त हैं, भौतिकता की चमक से चकाचौंध हैं।

हुआ प्रत्याशा से विरुद्ध! मित्र महोदय ने एक व्यंग्य भरी मुस्कान छोड़ते हुए कहा—"अनिल! काश तुम्हारे शब्दों का समर्थन कर पाता तो बड़ी प्रसन्नता होती, पर यह कहते हुए बड़ा दु:ख होता है कि जिन भारतीयों ने विश्व को अध्यात्म-ज्ञान की गंगा से नहलाकर स्वच्छ किया वही पाश्चात्य-दर्शन के गुण गाते हैं। वेद, गीता, रामायण, महाभारत का नाम भी अच्छी प्रकार नहीं जानते, पर पैराडाइस लास्ट, हैमलेट या जूलियस सीजर पर अनेकों थीसिस लिख सकते हैं। भारतीय संगीत, कला की गंभीरता को भूलकर, पश्चिम की कला के पैर पूजते हैं। हिंदू होकर हिंदी नहीं जानते और अंगरेजी का कोई क्षेत्र नहीं छोड़ते। भारतीयों को अपनी इस पराधीन स्थिति पर भले ही संकोच न होता हो, पर हम दु:ख से नत हो जाते हैं कि यथार्थवादी सत्य-शिव-सुंदर का प्रतिपालक भारतीय तत्त्वज्ञान ही नष्ट हो गया तो इस विश्व का क्या होगा?"

टामसन साहब उस समय साक्षात रुद्र की भाँति लग रहे थे। साँस लेकर पुन: बोले—"मेरा मंतव्य यही है कि सब अच्छी वस्तुएँ भारतवर्ष में ही हैं, वरन जो विश्व में है वह भारत में अवश्य है। मैं १० वर्ष भारत में गाँव-गाँव घूमा हूँ। हिमालय का सा सौंदर्य इस तुच्छ पेरिस में कहाँ है? गंगोत्री, अमरनाथ, दार्जिलिंग, वृंदावन, मीनाक्षी, श्रीरंगपट्टम जैसा प्राकृतिक और आध्यात्मिक सौंदर्य दुनिया में कहाँ मिलेगा? संस्कृत सी देवभाषा की समता नादान अंगरेजी कर सके, इतनी प्रौढ़ता उसमें कहाँ? मेरे मित्र! मुझे दु:ख है कि आप श्रेष्ठता ढूँढ़ने अमेरिका और पेरिस दोड़े आते हैं, धन्य है आपकी स्वतंत्रता और विचार-स्वाधीनता!"

सचमुच मेरी हिम्मत न हुई कि मैं टामसन रिचे के आगे मुँह उठा सकूँ, लज्जा से धरती में गड़ा जा रहा था। भारतीय

होकर अपनी अभारतीयता की स्थिति पर तब मुझे इतना क्षोभ हुआ, शायद उतना अपनी माँ की मृत्यु पर भी न हुआ हो। वास्तव में वह मेरी सबसे बड़ी पराजय थी। उस दिन से मुझे भारतीय वेशभूषा पसंद है। वेद, गीता, रामायण आदि का स्वाध्याय कर लेता हूँ। इनमें जो भावनात्मक आनंद आता है, वह अंगरेजी-उपन्यासों में कदापि नहीं मिला। अब विदेश घूमने की इच्छा कभी नहीं होती, वहाँ जाकर अपना आत्माभिमान क्यों बेचें?

❑

निर्बुद्धि संत और विद्वान बुढ़िया

एक दिन संत कन्फ्यूशियस के पास उनके कुछ शिष्य जाकर बोले—"गुरुदेव सच्चा ज्ञानी कौन होता है?"

कन्फ्यूशियस ने कहा—"सब लोग बैठ जाओ, अभी बताते हैं"—यह कहकर उन्होंने अपनी शेष दिनचर्या पूरी की और कपड़े पहने फिर सब शिष्यों को लेकर एक ओर चल पड़े।

सब लोग एक गुफा के अंदर प्रविष्ट हुए। वहाँ एक महात्मा निवास करते थे। जप, तप और चिंतन में अपना समय बिताया करते थे। कन्फ्यूशियस ने उनको प्रणाम किया और एक ओर बैठ गए, फिर शांत होकर पूछा—"भगवन! हम लोग आपके पास ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने आए हैं, बताइए यह कौन है, क्या है, कहाँ रहता है?"

महात्मा बिगड़ उठे—"तुम लोग यहाँ मेरी शांति भंग करने क्यों आ गए? भागो मेरे भजन में विघ्न पड़ता है।" कन्फ्यूशियस शिष्यों को लेकर बाहर निकल आए। उन्होंने कहा—"एक ज्ञानी तो यह हैं कि जिन्होंने संसार से आँखें मूँद ली हैं। संसार में सुख-दुःख की परिस्थितियों से अलग, एकांत में शांति की इच्छा रखने वाले यह संत छोटे दर्जे के ज्ञानी हुए।"

और अब वे गाँव में पहुँचे, जहाँ एक तेली कोल्हू चला रहा था। बैल की आँखें बँधी थी, वह अपनी मस्त चाल में उतना दायरा न मालूम कब से नाप रहा था और तेली कोल्हू पर बैठा कोई गीत गुनगुना रहा था।

कन्फ्यूशियस ने कहा—"भाई मैंने सुना है कि तुम ब्रह्मज्ञानी हो हमें भी थोड़ा ब्रह्म का उपदेश कीजिए।" तेली ने हँसकर उत्तर दिया—"भाई, यह बैल ही मेरा ब्रह्म, मेरा परमात्मा है। इसकी सेवा मैं करता हूँ, यह मेरी सेवा करता है। बस हम दोनों सुखी हैं, सुख ही ब्रह्म है।"

गुरुदेव बाहर निकले और शिष्यों को संबोधित कर कहा—"मध्यम ज्ञानी प्रबुद्ध गृहस्थ के रूप में यह तेली है, जिसके मन में ज्ञानप्राप्ति की आकांक्षा है, यह धीरे-धीरे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है।"

अब वे फिर आगे बढ़े। उन्होंने कहा—"संसार की खुली परिस्थितियों का अध्ययन करने से स्थिति का उतना अच्छा ज्ञान हो सकता है, जितना कि पुस्तकों के पढ़ने अथवा महात्माओं के प्रवचन से नहीं हो सकता। पुस्तक तो एक व्यक्ति का दृष्टिकोण होती है, प्रवचन एक व्यक्ति की ज्ञान-साधना का निष्कर्ष, इसलिए संसार को देखो और यह पता लगाओ कि स्पष्ट स्थिति कहाँ है और भ्रम कहाँ? जो निर्विकार और सही हो, उसे तुम्हारी बुद्धि आप स्वीकार करेगी, फिर उसे अपने जीवन में धारण करने से कल्याण हो सकता है।"

इस तरह बातचीत करते हुए वे एक बुढ़िया के दरवाजे पर रुके। कई लड़के बुढ़िया के आस-पास शोरगुल कर रहे थे। बुढ़िया चरखा कात रही थी। बीच-बीच में किसी बच्चे के माँगने पर पानी पिला देती, कभी किसी नटखट बालक को डाँट भी देती। कभी किसी को हँसकर समझाती, फिर बच्चे खेलने लगते तो वह भी अपना चरखा कातने में मगन हो जाती।

कन्फ्यूशियस जैसे ही वहाँ पहुँचे, सब लड़के भाग गए। उन्होंने पूछा—"माताजी! आप कृपा कर यह बताइए, क्या आपने ईश्वर देखा है?"

बुढ़िया मुस्कराई और बोली—"हाँ-हाँ बेटा। वह अभी यहीं खेल रहा था, आपको देखते ही भाग गया। वह निरर्थक शोरगुल, बच्चों का रूठना, मेरा मनाना, फिर हँसी, फिर विनोद यही तो ईश्वर था, जो तुम्हारे यहाँ आते ही चला गया।"

कन्फ्यूशियस शिष्यों को साथ लेकर घर लौट पड़े—उन्होंने बताया—"निष्काम ज्ञानी के रूप में यह बुढ़िया ही सच्ची ज्ञानी है, जो ज्ञान का संबंध किसी उपयोग या लाभ से नहीं जोड़ती, उसे उन्मुक्त रखकर स्वयं भी मुक्त भाव का अनुभव करती है।"

❑

नौ सौ बच्चों के स्नेहपूर्ण पिता

शार्लोट (उत्तरी कैरोलाइना) के विला हाइट्स प्राथमिक स्कूल में चले जाइए। वहाँ के प्रधानाध्यापक श्री राल्फ क्लाइन को आप सदा बच्चों की चिंता में मग्न पाएँगे। इस शाला में नौ सौ बच्चे हैं। श्री राल्फ क्लाइन का बच्चों के प्रति अत्यंत ही स्नेहसिक्त व्यवहार है।

अपनी कुर्सी पर बैठकर कार्य तो वे बहुत ही कम करते हैं। अधिकांश समय वे विद्यार्थियों तथा शिक्षकों के बीच गलियारों में घूमते ही बिताते हैं। खाली समय में भी वे विशेषत: ऐसे ही विद्यार्थियों को उद्‌बोधन देते रहते हैं जिनकी रुचि पढ़ने-लिखने में कम होती है या जो किसी विशेष कमी के शिकार होते हैं।

इस शाला के बच्चों के लिए उनके सद्‌भाव, सद्‌व्यवहार, स्नेह तथा आत्मीयता की उपयोगिता यों अधिक बढ़ जाती है क्योंकि उसमें अधिकांशत: पिछड़े वर्ग के बच्चे ही शिक्षा पाते हैं।

किसी-किसी को तो जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन भी उपलब्ध नहीं होते।

श्री क्लाइन का मत है कि जब तक बच्चे की मूल तथा प्रारंभिक आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं होतीं—उससे अच्छी पढ़ाई या किसी भी कुशलता अथवा सफलता की आशा करना व्यर्थ है। उन्होंने अपनी शाला में दोपहर के निशुःल्क भोजन की व्यवस्था की है। कभी-कभी नाश्ता भी दिया जाता है।

ये स्वयं प्रत्येक कठिनाई का हल निकालकर, छात्रों तथा शिक्षकों की समस्याओं का समाधान करते हैं। उनका व्यवहार उन सबके प्रति वैसा ही है, जैसा किसी परिवार के मुखिया का होता है। बच्चों से असीम स्नेह-अतुल प्यार तथा आत्मीयतापूर्ण अपनापन। किंतु साथ ही इतनी स्वतंत्रता भी नहीं कि उच्छृखंलता को किसी प्रकार का बढ़ावा मिले।

उनके प्रशिक्षण का ढंग अत्यंत ही अनुशासित तथा व्यवस्थित है। प्रत्येक विद्यार्थी के विषय में वे पूरी जानकारी रखते हैं कि उसकी मनोभूमि किस स्तर की है ? उसी प्रकार वे उससे व्यवहार तथा आशाएँ रखते हैं।

उनका कहना है कि बच्चे अपनी सहज ग्रहणशीलता के आधार पर यह जान सकते हैं कि आप उनका ध्यान रखते हैं या नहीं। अपने शिक्षकों को भी उन्होंने इस प्रकार के निर्देश दे रखे हैं कि वे बालक-बालिकाओं से अत्यंत ही प्रेमपूर्ण व्यवहार करें। गलती भी समझाएँ, पर उचित तथा मनोवैज्ञानिक ढंग से।

हाँ, और यदि कोई बच्चा सीधे-सीधे समझाने तथा प्रयत्न करने पर भी सही रास्ते पर नहीं आता, तब कड़ाई का व्यवहार भी करते हैं—उसी प्रकार जैसे एक अनुभवी पिता अपने बच्चों को गलत राह पर जाने से रोकता है। उनका अपना भी यही मत है कि बच्चों के मस्तिष्क में यह बात भलीभाँति बैठा देनी चाहिए कि शिक्षक उनके साथ तभी कड़ा बरताव करता है, जबकि कुछ गलत कार्य मना करने

पर भी करते हैं और शिक्षक तब बहुत प्यार करते हैं—जब बच्चे कोई अच्छा और उत्साहवर्द्धक कार्य करते हैं।

श्री क्लाइन अपने आप में आदर्श शिक्षक के एक उदाहरण हैं। चालीस वर्ष की अवस्था में भी युवकों जैसी स्फूर्ति तथा उत्साह एवं हँसमुख स्वभाव उनके व्यक्तित्व का विशेष आकर्षण है। आज के शिक्षकों को जो अपना उत्तरदायित्व पूर्णरूप से नहीं निभाते हैं— इनसे बहुत कुछ सीखना चाहिए।

❑

शैतानियत से इस तरह निपटा जाए

अल कैपोन जिस रास्ते निकल जाता लोग रास्ता छोड़ देते। जिस पदाधिकारी से भेंट हो जाती, उसके प्राण सूख जाते। पुलिस और न्यायाधीश उसकी दृष्टि से अपना बचाव करते थे। बड़ा खूँखार और बेईमान था वह व्यक्ति । उसके गिरोह में कितने बदमाश थे, इसका पता भी नहीं चल सकता था। वह अकेले अवैध शराब के धंधे में ही ३ करोड़ डालर प्रतिवर्ष कमाता था, पर क्या मजाल कि कोई अधिकारी उस पर चूँ कर जाए। सब उसकी कृपादृष्टि के लिए लालायित रहा करते थे।

स्वस्थ और बलवान रहा होगा, पर वह कोई भूत नहीं था जो उससे घबराया जाता, पर जब मनुष्य की संघर्ष और बुराइयों से मुकाबले की शक्ति समाप्त हो जाती है, तब कोई छोटा सा साहसी बालक भी रोब गालिब कर सकता है। यदि १००-५० व्यक्ति भी संगठित होकर खड़े हो जाते तो अल कैपोन जैसे २० दुष्टों को मारकर रख देते, पर प्राणों का अकारण मोह और पस्त हिम्मत खा जाती है मनुष्य को। जिस समाज के लोग बुराइयों से डरते हैं, उनसे लड़ नहीं सकते, वे उन अमेरिकनों की भाँति ही सताए जाते रहते हैं। चाहे चीनी हों या भारतवासी। हम भी तो आएदिन अवांछनीय

लोगों द्वारा सताए जाते हैं, पर कहाँ यह हिम्मत होती है, उनसे लड़ पड़ने की?

बात धीरे-धीरे अमेरिकन राष्ट्रपति हर्बर्ट हूबर के कानों तक पहुँच गई। हर्बर्ट हूबर हैरान थे कि एक व्यक्ति का मुकाबला करना भी लोगों को कठिन है, फिर यदि चारों तरफ ऐसे लोगों का फैलाव हो जाए तो क्या हो? उन्होंने निश्चय कर लिया जो भी हो एक अमेरिकन राष्ट्रपति और भी गोली का शिकार हो जाएगा, पर शैतानियत को खुलकर खेलने का अवसर नहीं दिया जाएगा। यदि कैपोन कुछ बुरे लोगों का मार्गदर्शन कर सकता है तो हम हजारों अच्छे लोगों को किस तरह बुराइयों से निबटा जाता है? यह सिखाने की जिंदादिली भी रखते हैं।

अभी वे नए-नए ही राष्ट्रपति चुने गए हैं। जब लोगों को विजयोल्लास की सूझ रही थी, तब राष्ट्रपति की आँखों में देशवासियों के इस संकट की किरकिरी खटक रही थी, मियामी के एक होटल में राष्ट्रपति के सम्मान में स्वागत दिया गया था, उनके हजारों प्रशंसक और पार्टीमैन उसमें सम्मिलित हुए थे। दैवयोग से राष्ट्रपति और अलफ्रोज कैपोन की भेंट वहीं हो गई। उपस्थित अधिकारियों की उपेक्षा करता हुआ, वह सिगरेट का धुआँ अभद्रता से छोड़ता हुआ निकल गया, सबकी आँखें उधर गईं; पर किसी को भी टोकने की हिम्मत न पड़ी। उन्हें पता था उसे छेड़ने का मूल्य प्राणों से चुकाना पड़ सकता है।

राष्ट्रपति हूवर ने पूछा—कौन है यह?

'अल कैपोन' लोगों ने बताया। राष्ट्रपति का उबलकर आया हुआ क्रोध दब तो गया पर वह इस निश्चय में बदल गया कि अब इस धूर्त को जल्दी ही मिट्टी चखाना चाहिए।

साथियों, सलाहकारों ने समझाया कि उससे मोर्चा लेना आसान बात नहीं है। वह कोई भी कांड कर सकता है। इस पर राष्ट्रपति ने कहा—"मैं कब चाहता हूँ कि मैं केवल आसान बातें ही निबटाता

रहूँ। मनुष्य को परमात्मा ने ऐसी शक्ति दी है कि हर किसी को असाधारण कार्य के लिए तैयार रहना चाहिए।''

राष्ट्रपति ने सूचना विभाग का एक पूरा दस्ता उसके पीछे लगा दिया। उसे पता भी चल गया और किसी अपराध की पुष्टि नहीं हो रही थी, पर इनकम टैक्स के मामले में वह पकड़ में आ गया और राष्ट्रपति ने आगे आकर उसे गिरफ्तार करा दिया। इस बार न्यायाधीशों के पास राष्ट्रपति की हिम्मत थी, सो उसे ११ वर्ष की कड़ी सजा दी गई। कैपोन जब जेल से छूटा, तब एक ढीला ढाला मजदूर मात्र रह गया था। उसके गिरोह का पता भी न था।

❑

पक्षपात किया जाए तो इस तरह

किसी ने आक्षेप लगाया संत विनोबा पर ''विनोबा जी ने सुना और एक स्थान पर उसका स्पष्टीकरण भी दे दिया। उन्होंने बतलाया पक्ष न लिया जाए, यह अच्छा है; किंतु यदि लेना पड़े तो शत्रु का ही लेने योग्य है। मित्र का क्या पक्ष लिया जाए—वह तो अपना है ही। मित्र के पक्ष में तो बुद्धि सहज हो जाती है—प्रयासपूर्वक शत्रु के पक्ष में लगाने पर ही पक्षपात से आंशिक मुक्ति पाई जा सकती है।''

समाधान बहुत प्रमाणिक तथा विवेकपूर्ण ढंग से किया गया है। संत विनोबा की बुद्धि तथा विवेक पर लोग लट्टू हो उठते हैं। होना चाहिए, किंतु बुद्धि के केवल क्रियाशील होने से ही उसकी श्रेष्ठता प्रमाणित नहीं होती, उसंकी दिशा भी सही होनी चाहिए। विनोबा जी की बुद्धि को जो श्रेष्ठता प्राप्त थी, वह उसकी सही दिशा के कारण ही है। तीव्र बुद्धि के व्यक्ति तो समाज में और भी बहुत हैं। अपने बौद्धिक चमत्कारों से दुनिया को नित नई समस्याओं में डालने वाले कम नहीं हैं। बुद्धि की

गलत दिशा होने के कारण न उसका समाज को लाभ मिल पाता है और न उन्हें श्रेय।

इस प्रकार की दिशा बुद्धि को दिए जाने का श्रेय विनोबा अपनी माता को देते थे। सामान्य जीवन में सहज घटित एक घटना ने उनके अंदर वह अंकुर पैदा कर दिया, जो उन्हें नई-नई सूझ इसी दिशा में देता था।

घटना उनके बचपन की है। उनके साथ बहुधा कोई संबंधी या मित्र बालक भी उनके घर में रहा करता था। उस बालक को भी घर में विनोबा के समान ही सुविधाएँ मिला करती थीं। भोजन आदि भी साथ-साथ समान स्तर का मिलता था। कभी-कभी घरों में बासी भोज़न बचा रहना भी स्वाभाविक है। उनकी माता भोजन फेंके जाने के विरुद्ध थीं। अस्तु, वह भोजन मिल-जुलकर थोड़ा-थोड़ा खा लिया जाता था। ऐसे अवसर पर माता विनोबा को बासी भोजन देकर-दूसरे को ताजा खिलाने का प्रयास करती थी। विनोबा को इस पर कोई आंतरिक विरोध नहीं था, सहज सद्भावना का शिक्षण उन्हें प्रारंभ से ही मिला था; किंतु परिहास में एक दिन उन्होंने माँ से कहा—"माँ, आपके मन में अभी भेद है।" माँ प्रश्नवाचक दृष्टि से उनकी ओर देख उठी। विनोबा ने हँसते हुए कहा—"हाँ, देखो न, आप मुझे बासी भोजन देती हैं तथा अमुक साथी को ताजा।"

माँ की उदारता को पक्षपात की संज्ञा देकर, विनोबा ने परिहास किया था, किंतु माता ने उसे दूसरे ही ढंग से लिया। बोली—बेटा, तू ठीक कहता है। मानवीय दुर्बलताएँ मुझमें भी हैं। तू मुझे अपना बेटा दीखता है तथा अभ्यागत अतिथि। इसे ईश्वर रूप अतिथि मानकर, सहज ही मेरे द्वारा यह पक्षपात का व्यवहार हो जाता है। तुझे बेटा मानने के कारण तेरे प्रति अनेक प्रकार का स्नेह मन में उठता है। जब तुझे भी सामान्य दृष्टि से देख सकूँगी, तब पक्षपात की आवश्यकता नहीं रह जाएगी।

बात कहीं की कहीं पहुँच गई थी, पर विनोबा को प्रसन्नता हुई। माता का एक और उज्ज्वल पक्ष उनके सामने आया था। समाज के संतुलन तथा आध्यात्मिकता की पकड़ का महत्त्वपूर्ण सूत्र उन्हें मिल गया था। लोग संतुष्टि के प्रयास में असंतुष्ट होते क्यों दिखाई दिया करते हैं? इसके कारण की वह खोज करते थे। आज उन्हें उसका एक विशिष्ट पक्ष दिखा। पक्षपात मनुष्य के अंतःकरण को सहन नहीं होता। व्यक्ति अभाव स्वीकार कर लेता है, पक्षपात नहीं। अपने को पक्षपात से मुक्त अनुभव करने वाला अंतःकरण ही संतोष का अनुभव करता है। संत विनोबा ने माता की शिक्षा गाँठ में बाँध ली। आज वही गुण विकसित होकर, समाज में व्यापक प्रभाव डाल रहा है।

❑

अध्यवसायी—ईश्वरचंद्र

पं० ईश्वरचंद्र विद्यासागर के पिता दो-तीन रुपए मासिक के मजदूर थे। घर का गुजारा ही कठिनता से हो पाता था, तब पुत्र को पढ़ा सकने का प्रश्न ही न उठता था, किंतु उनकी यह इच्छा जरूर थी कि उनका पुत्र पढ़-लिखकर योग्य बने पर आर्थिक विवशता ने उन्हें इस इच्छा को महत्त्व देने से रोके रखा।

ईश्वरचंद्र जब कुछ सयाने हुए तो गाँव के लड़कों को स्कूल जाता देखकर पिता से रोते हुए बोले—"मैं भी पढ़ने जाऊँगा।" पिता ने परिस्थिति बतलाते हुए कहा—"बेटा, तेरे भाग्य में विद्या ही होती तो मेरे जैसे निर्धन के यहाँ क्यों पैदा होता? कुछ और बड़े होकर मेहनत-मजदूरी करने की सोचना, जिससे ठीक तरह से पेट भर सके। पढ़ाई के विषय में सोचना फजूल बात है।"

पिता की निराशापूर्ण बात सुनकर ईश्वरचंद्र मन मसोसकर रह गए। इससे अधिक वह बालक और कर भी क्या सकता था? पिता का उत्तर पाकर भी उसका उत्साह कम नहीं हुआ। उसने

पढ़ने वाले अनेक छात्रों को मित्र बनाया और उनकी किताब से पूछकर पढ़ने लगा। इस प्रकार धीरे-धीरे उसने अक्षर ज्ञान प्राप्त कर लिया और एक दिन कोयले से जमीन पर लिखकर, पिता को दिखलाया। पिता विद्या के प्रति उसकी लगन देखकर मन ही मन निर्धनता को कोसने लगे। पुत्र को पढ़ाने के लिए उनका हृदय अधीर हो उठा।

एक दिन कुछ अधिक कमाने के लिए वे ईश्वरचंद्र को लेकर कलकत्ता (कोलकाता) की ओर चल दिए। रास्ते में एक जगह सुस्ताने के लिए रुककर उन्होंने कहा—न जाने कितनी दूर चले आए हैं ? अनायास ही ईश्वरचंद्र बोल उठा—९ मील पिताजी! ईश्वरचंद्र ने बतलाया कि पास के मील पत्थर पर ९ लिखा है। पिता यह जानकर हर्ष-विभोर हो गए कि ईश्वरचंद्र ने चलते-चलते मील के पत्थरों से ही अंगेरजी अंकों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। वे उसे लेकर वहीं से घर वापस लौट पड़े। रास्ते भर सोचते आए कि यदि ऐसे जिज्ञासु तथा उत्साही पुत्र को पढ़ने से वंचित रखा तो यह बहुत बड़ा अपराध होगा। मैं एक वक्त खाऊँगा, घर को आधा पेट रखूँगा, किंतु ईश्वरचंद्र को पाठशाला अवश्य भेजूँगा। घर आकर उन्होंने ईश्वरचंद्र को गाँव की पाठशाला में भरती करा दिया।

गाँव से आगे पढ़ा सकना तो पिता के लिए सर्वथा असंभव था। उन्होंने इनकार किया। इस पर ईश्वरचंद्र ने प्रार्थना की कि वे उसे किसी विद्यालय में भरती भर करा दें, उसके बाद उसे कोई खरच न दें। वह शहर में स्वयं उसका प्रबंध कर लेगा। पिता ने उनकी बात मान ली और उसे कलकत्ता के एक संस्कृत विद्यालय में भरती करा दिया। विद्यालय में पहुँचकर ईश्वरचंद्र ने अपनी सेवा, लगन तथा योग्यता के बल पर शिक्षकों को यहाँ तक प्रसन्न कर लिया कि उनकी फीस माफ हो गई। पुस्तकों के लिए वह अपने सहपाठियों का साझीदार हो जाता था।

अपनी इस व्यवस्था के साथ संतुष्ट रहकर, ईश्वरचंद्र ने अध्ययन में इतना परिश्रम किया कि उन्नीस वर्ष की आयु पहुँचते-पहुँचते उन्होंने व्याकरण, साहित्य, अलंकार स्मृति तथा वेदांत शास्त्रों में निपुणता प्राप्त कर ली। उनकी असंदिग्ध विद्वत्ता तथा तदनुकूल आचरण से प्रभावित होकर विद्वानों की एक सभा ने उन्हें मानपत्र के साथ 'विद्यासागर' की उपाधि से विभूषित किया और उसके मूल्यांकन में अनुरोधपूर्वक फोर्ट विलियम संस्कृत कॉलेज में प्रधान पंडित के पद पर नियुक्त कर लिए गए। परिश्रम एवं पुरुषार्थ का सहारा लेने वाले ईश्वरचंद्र का जीवन ही बदल गया। कहाँ लोग उनके दो-चार रुपए मासिक का मजदूर बनने की सोच रहे थे और कहाँ वे भारत के ऐतिहासिक व्यक्ति बनकर राष्ट्र के श्रद्धापात्र बनकर अमर हो गए।

❑

जगहित आपनि खोरि कराऊँ

संत रामानुजाचार्य ने श्रीरंगम के संन्यासी यतिराज से दीक्षा लेकर संन्यास आश्रम में प्रवेश किया। गुरुदेव ने उन्हें अष्टाक्षर नारायण मंत्र का उपदेश दिया और कहा—"वत्स! यह परम पवित्र मंत्र है। इसके निष्ठापूर्वक जप करने से साधु मोक्ष के अधिकारी होते हैं।"

श्री यतिराज ने चलते समय यह भी कहा—"तात! यह मंत्र अधिकारी पात्र को ही दिया जाता है। इसका सस्वर उच्चारण मत करना। जिस किसी के कान में पड़ जाता है, वह पापी हो या पुण्यात्मा सभी पवित्र हो जाते हैं।"

गुरुदेव से विदा होकर रामानुजाचार्य अपनी कुटिया में आए, पर यह क्या! आज तो उनके मन में कल वाली शांति भी नहीं थी। मस्तिष्क में अंतर्द्वंद्व चल रहा था।

उन्होंने विचार किया सारा संसार पाप की ज्वाला में जल रहा है। भगवान की सृष्टि में अमंगल नाम की कोई वस्तु नहीं है तो भी लोग पाप और बुरे कर्मों के कारण दुखी हैं, यदि इन्हें पाप से बचाया जाना संभव हो तो क्यों संसार में किसी को कष्ट हो?

तभी गुरुदेव के वे शब्द याद आए—"यह मंत्र जिसके कान में पड़ जाता है, वही पवित्र हो जाता है।" फिर यदि ऐसी शक्ति है इस मंत्र में तो उन्होंने उसे सस्वर उच्चारण के लिए मना क्यों किया। संन्यासी को एकमात्र लोकहित की चिंता होती है; फिर यह मंत्र जिसमें लोकहित का सार छिपा है, उसमें बंधन क्यों लगाया गया?

देर तक विचार-मंथन चलता रहा। यदि गुरुदेव की आज्ञा मानता हूँ तो अपने संन्यास धर्म और संसार को पाप से बचाने के कर्त्तव्य से गिरता हूँ, अपनी हानि नहीं—पर लोक हानि होती है। यदि गुरुदेव की बात नहीं मानता तो आज्ञा उल्लंघन का पाप लगता है।

इस मानसिक संघर्ष में नींद नहीं आई। दो तिहाई रात ऐसे ही अंतर्द्वंद्व में बीती। प्रातःकाल होने को आई तो एकाएक रामानुजाचार्य उठे और मकान की छत पर चढ़ गए और खड़े होकर जोर-जोर से—"ॐ नमो नारायणाय", "ॐ नमो नारायणाय" चिल्लाने लगे। आस-पास के सभी लोगों की नींद टूट गई। लोग चौंककर जाग बैठे। रामानुजाचार्य मंत्र भी चिल्लाते जाते थे और यह भी समझाते जाते थे—"भाइयो! जो भी इस मंत्र का निष्ठापूर्वक जप करता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है।"

एक दूसरे शिष्य को भेजकर गुरु यतिराज ने रामानुज को अपने पास बुलाया। रामानुज अपराधी की भाँति गुरुदेव के समीप जा खड़े हुए। रात भर नींद न आने के कारण आँखें सूज रही थीं।

नाराज स्वर में गुरुदेव ने पूछा—"रामानुज! तुझसे मना किया था"—यह मंत्र किसी के कान में नहीं पड़ना चाहिए, तूने मेरी आज्ञा का उल्लंघन कैसे किया?

देव! रामानुजाचार्य ने विनम्र वाणी में कहा—"आपकी आज्ञा का पालन न करने से मुझे महापातक लगेगा, यह मैं जानता हूँ, किंतु भगवान के इस सुंदर संसार को पापी और दुखी नहीं देखा जाता। इस मंत्र से सबका उद्धार हो जाए तो क्या बुरा, मुझे जो यातना मिलेगी, वह सब सह लूँगा, पर संसार का तो कल्याण हो जाएगा।"

यतिराज शिष्य की इस लोकमंगल की निष्ठा से गद्‍गद हो उठे! रामानुज को छाती से लगाकर उन्होंने कहा—"रामानुज! तू ही मेरा सच्चा शिष्य है। तू निश्चित ही एक दिन सारे संसार को प्रकाश देगा।"

❑

आराम नहीं काम चाहिए

एशिया के उद्योगशील और समृद्ध देशों में इन दिनों जापान की सर्वत्र चर्चा है। जानना चाहिए कि वहाँ की समृद्धि का मूल कारण दैवी अनुकंपा नहीं वह श्रम और ईमानदारी है, जिसे जापानी नागरिक अपनी विरासत समझते हैं।

कुछ समय पूर्व एक अमेरिकन फर्म ने जापान में अपना व्यापार खोला। अमेरिका एक संपन्न देश है, वहाँ थोड़े समय काम करके, कम परिश्रम में भी लोग काफी पैसा कमा लेते हैं, पर यह स्थिति जापान में कहाँ? वहाँ के लोग मेहनत-कश होते हैं, परिश्रम को वे शारीरिक संपत्ति मानते हैं। "जो मेहनत नहीं करता, वह अस्वस्थ होता है और समाज को विपन्न करता है" यह धारणा प्रत्येक जापानी नागरिक में पाई जाती है।

फर्म बेचारी को इसका क्या पता था? दूसरे देश में जाकर लोग आमतौर से अपने देश की उदारता ही दिखाने का प्रयास करते हैं। अमेरिका के उद्योगपति ने भी वही किया। उसने कर्मचारी जापानी ही रखने का फैसला किया, साथ ही यह भी निश्चय किया कि अमेरिकन कानून के अनुसार सप्ताह में केवल ५ दिन काम होगा। शनिवार और रविवार की छुट्टी रहेगी।

साहब-बहादुर का विश्वास था कि इस उदारता से जापानियों पर बड़ा असर होगा, वे लोग प्रसन्न होकर दुआएँ देंगे। पर एक दिन जब उन्होंने देखा कि फर्म के सभी कर्मचारी विरोध में प्रदर्शन कर रहे हैं तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। अधिक से अधिक सहूलियतें दी गई हैं, फिर भी कर्मचारी विरोध कर रहे हैं, फर्म के मैनेजर एकाएक यह बात समझ नहीं सके।

यह तो अल्पबुद्धि के लोग होते हैं, जो अधिक आराम पाना सौभाग्य मानते हैं, पर आलस्य और अकर्मण्यता के कारण जो रोग और दारिद्रय छाए रहते हैं, उनकी ओर कदाचित ध्यान ही नहीं जाता। यह बात समझ ली गई होती, तो आज सैकड़ों भारतवासी भी रोग, अस्वस्थता और कर्ज आदि से बच गए होते।

यह गुरुमंत्र कोई जापानी भाइयों से सीखे। आखिर विरोध का कारण जानने के लिए मैनेजर साहब ने कर्मचारियों के पास जाकर पूछा—"आप लोगों को क्या तकलीफ है?"

"तकलीफ यह है कि हमें दो छुट्टियाँ नहीं चाहिए। हमारे लिए एक ही छुट्टी पर्याप्त है।" "ऐसा क्यों?" पूछने पर उन्होंने आगे बताया—आप जानते होंगे कि अधिक आराम देने से हमारी खुशी बढ़ेगी तो यह आपका भ्रम है। अधिक छुट्टियाँ होने से हम आलसी बन जाएँगे। परिश्रम करने में हमारा मन नहीं लगेगा और उसका दुष्प्रभाव हमारे वैयक्तिक और राष्ट्रीय जीवन पर पड़ेगा।

हमारा स्वास्थ्य खराब होगा। छुट्टी के कारण इधर-उधर घूमने में हमारा अपव्यय बढ़ेगा। जो छुट्टी हमारा स्वास्थ्य गिराए और हमें आर्थिक भार से दबा दे—ऐसी छुट्टी हमारे जीवन में बिलकुल नहीं खपती।

अमेरिकन उद्योगपति उनकी इस दूरदर्शिता और आदर्शवाद पर मुस्कराए बिना न रह सके। उन्हें कहना ही पड़ा—"जापानी भाइयो! आपकी समृद्धि और शीघ्र सफलता का रहस्य हम आज समझे। सचमुच परिश्रम और पुरुषार्थ ही समृद्धि की कुंजी है। आप लोग कभी निर्धन और अस्वस्थ नहीं रह सकते।"

न जाने यह बात हमारे देश वाले कब तक सीख पाएँगे?

❑

संकल्प तोड़ना ठीक बात नहीं

कांग्रेस के इतिहास में शोलापुर कांड लगभग जलियाँवाला कांड जैसा ही था। वहाँ मार्शल लॉ लगा दिया गया था। देशभर से वालंटियर वहाँ जाते थे और गोलियों की बौछार द्वारा चने की तरह भून दिए जाते थे।

लालबहादुर शास्त्री ने भी अपना नाम वालंटियरों में भेज दिया। यह खबर टंडन जी को लगी तो उन्हें शास्त्रीजी के जीवन-रक्षा की चिंता हुई, उन्होंने शास्त्रीजी की माता जी को खबर भेजी—"किसी तरह शास्त्रीजी को वहाँ जाने से तुम्हीं रोको, वह और किसी की बात मानने वाले नहीं।"

भारतीय माताओं का वात्सल्य और मोह अन्यतम कहा जा सकता है। विशेषकर ऐसी स्थिति में जबकि जीवन-मरण की समस्या प्रस्तुत हुई हो उनका मोह उग्र होना स्वाभाविक ही कहा जा सकता है, वे हर संभव प्रयास करती हैं कि बच्चा रुक जाए, अमुक कार्य न करे, जिससे कोई हानि हो या जीवन को खतरा उत्पन्न हो।

शास्त्री जी की माता जी ग्रामीण जीवन में पली थीं। यह आशा थी कि वे इस समाचार से व्याकुल हो उठेंगी और शास्त्रीजी को शोलापुर न जाने देंगी।

पर हुआ कुछ दूसरा ही। जैसे ही उनके पास यह खबर पहुँची, वह रोष में भरकर बोलीं—''मेरे बच्चे ने जो संकल्प लिया है उसे पूरा करना ही चाहिए। मैं उसे रोक नहीं सकती। बच्चे का शहीद होना सौभाग्य मानूँगी, पर उसे कर्त्तव्य से गिरते सहन नहीं कर सकती। प्रतिज्ञाएँ किन्हीं महत्त्वपूर्ण कार्यों की पूर्ति के लिए की जाती हैं, उन्हें निभाना मनुष्य का परम धर्म है। जो उसकी अवहेलना करता है, उसकी आत्मा कमजोर होती है। मेरा बच्चा कमजोर आत्मा वाला कायर और कर्त्तव्यच्युत कहलाए, यह हमारी शान के प्रतिकूल है। मैं उसे सहर्ष शोलापुर जाने की आज्ञा देती हूँ।''

धर्म और आदर्शों की रक्षा ऐसी ही माताओं से होती है, जो बेटे के स्थूलशरीर की अपेक्षा उसके गुणों से मुहब्बत रखती हैं, जिन्हें चाम प्यारा नहीं होता, आत्माभिमान प्यारा होता है। माताजी की इस दृढ़ मनस्विता को ही श्रेय दिया जा सकता है, जो सामान्य परिस्थितियों से बढ़कर शास्त्री जी भारतीय इतिहास आकाश में उज्ज्वल नक्षत्र की तरह चमके। कर्त्तव्यपालन की अडिगता, धैर्य, निर्भीकता और संकल्पजयता के भाव उनकी माताजी के ही देन थे।

यह आदर्श हर भारतीय माता का आदर्श होना चाहिए। बच्चों के आत्मविकास में चरित्र और गुणों का स्थान सर्वोपरि है। यदि बच्चे को ऐसी किसी कसौटी से गुजरना पड़े तो माताओं को उनके गुण-गौरव को ही प्रोत्साहन देना चाहिए, भले ही भौतिक दृष्टि से हानि ही क्यों न हो?

शास्त्रीजी रोक दिए गए होते तो उनकी आत्मा आत्महीनता और प्रायश्चित के बोझ से दब गई होती। दबी हुई आत्माएँ तो सच्ची और न्याय की बात भी स्पष्ट नहीं कह पातीं, देश और समाज को राह दिखाना उन बेचारों के बूते कहाँ? जो प्रतिज्ञाएँ करते

हैं और मरकर भी उन्हें पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे दृढ़ स्वभाव के व्यक्ति आगे चलकर कुछ बड़े काम कर पाते हैं।

शास्त्रीजी शोलापुर गए। उन्होंने मृत्यु की परवाह नहीं की। जेल चले गए, यातनाएँ सहीं, पर उन्होंने की हुई प्रतिज्ञाओं से कभी पीछे कदम न हटाया। कर्त्तव्यपालन की इस दृढ़ता ने एक छोटे से आदमी को बड़ा बना दिया। साधारण ग्रामीण को अंतरराष्ट्रीय ख्याति का प्रधानमंत्री बना दिया।

❑

प्लास्टिक का दिल बनाने वाले महान डॉक्टर

टेमगाज के एक डॉक्टर श्री माईकेल डेवा ने चिकित्साशास्त्र में एक अद्‌भुत चमत्कार कर दिखाया। उन्होंने एक हृदय रोगी का खराब दिल निकालकर उसके स्थान पर प्लास्टिक का एक नकली दिल लगा दिया।

डॉ० डेवा के इस अद्‌भुत कार्य का प्रभाव रोगी पर किसी प्रकार भी अन्यथा नहीं पड़ा। उसका नकली दिल यथावत काम कर रहा है। शरीर का रक्त-संचालन तथा रक्तचाप सामान्य रहा। साथ ही शरीर के अन्य अवयवों की कार्य प्रणाली में किसी प्रकार का व्यवधान अथवा विरोध नहीं आया। डॉ० डेवा की इस सफलता ने चिकित्सा विज्ञान में एक नई क्रांति का शुभारंभ कर दिया है।

डॉ० डेवा ने प्रारंभ से ही, जब वे कॉलेज में पढ़ते थे, यह विचार बना लिया था कि वे अपना सारा जीवन संसार की सेवा में ही लगाएँगे। अपनी सेवाओं के लिए उन्होंने चिकित्सा का क्षेत्र चुना। डॉ० डेवा जब किशोर थे तभी से यह अनुभव कर रहे थे कि रोग मानव जाति के सबसे भयंकर शत्रु हैं। यह मनुष्यों के लिए न केवल अकाल मृत्यु के कारण बनते हैं, बल्कि जिसको लग जाते हैं, उसका जीवन ही बेकार तथा विकृत बना देते हैं। न

जाने कितनी महान आत्माएँ और उदीयमान प्रतिभाएँ जो संसार का बड़े-से-बड़ा उपकार कर सकती हैं। विचार निर्माण तथा साहित्य के क्षेत्र में अद्‌भुत दान कर सकती हैं, इनका शिकार बनकर नष्ट हो जाती हैं।

इसके साथ ही उन्हें यह बात भी कम कष्ट नहीं देती थी कि रोग से ग्रस्त हो जाने पर जहाँ मनुष्य की कार्यक्षमता भी नष्ट हो जाती है, वहाँ उसके उपचार में बहुत सा धन भी बरबाद होता रहता है। रोगों के कारण संसार के न जाने कितने परिवार अभावग्रस्त बने रहते हैं। जो पैसा वे बच्चों की पढ़ाई और परिवार की उन्नति में लगा सकते हैं, वह सब रोग की भेंट चढ़ जाता है और बहुत से होनहार बच्चे अर्द्धशिक्षित रह जाते हैं।

इस बात को सोचकर तो वे और भी व्यग्र हो उठते थे कि रोगों से दूसरे नए रोगों का जन्म होता है। संसार की आबादी बुरी तरह बढ़ती जा रही है। लोग अभी इतने समझदार नहीं हो पाए हैं कि यह समझ सकें कि जनवृद्धि के कारण संसार में उपस्थित अभाव भी अनेक रोगों को जन्म देता है। भरपेट भोजन न मिलने से मनुष्य की शक्ति क्षीण हो जाती है, जिससे उसे अनेक रोग दबा लेते हैं, उनका संक्रमण तथा प्रसार होता है और संसार की बहुत सी बस्तियाँ बरबाद हो जाती हैं। रोग युद्ध से भी अधिक मानव समाज के शत्रु होते हैं।

वे चिकित्साशास्त्र के अध्ययन में लग गए और यह भी देखते रहे कि उन्हें इस क्षेत्र की किस शाखा में अनुसंधान तथा विशेषता प्राप्त करनी चाहिए? उन्होंने पाया कि आजकल मनुष्यों में कृत्रिमता का बहुत प्रवेश हो गया है। लोग अप्राकृतिक जीवन के अभ्यस्त हो गए हैं। उनके खानपान में अनेक अखाद्य पदार्थ शामिल हो गए हैं, जो शरीर के लिए बहुत घातक सिद्ध होते हैं। इसके साथ तंबाकू, शराब और अन्य बहुत से नशों के कारण भी मानव स्वास्थ्य बुरी तरह चौपट होता जा रहा है। इन सारे व्यसनों तथा अनियमितताओं

का सीधा प्रभाव हृदय पर पड़ता है। इसीलिए अधिकांश रोगी दिल की किसी न किसी बीमारी से ग्रस्त रहते हैं। हार्टफेल्यौर की बीमारी का कारण भी उनका यही अनुपयुक्त रहन-सहन तथा आहार-विहार है।

डॉ० डेवा ने इस अयुक्तता पर दुखी होते हुए हृदय संबंधी अनुसंधान तथा चिकित्सा में विशेषता प्राप्त करने के लिए जीवन का बहुत बड़ा भाग लगा दिया। उन्होंने एक लंबी अवधि के प्रयोग, चिकित्सा, उपचार तथा अनुसंधान परीक्षणों के बाद अपनी साधना का मूल्य पाया और खराब दिल निकालकर उसके स्थान पर प्लास्टिक का दिल लगा सकने में सफल हो गए।

❑

सहनशीलता में महानता सन्निहित है

बात सन् १९६५ की है। उन दिनों भारत-पाकिस्तान का संघर्ष चल रहा था। चाहे जब हवाई हमले की घंटी बज सकती थी। सुरक्षा के लिए प्रधान मंत्री भवन में भी खाई बनवाई गई थी। प्रधान मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री को कहा गया—"आज हमले की आशंका अधिक है, आप घंटी बजते ही तुरंत खाई में चले जावें।"

किंतु दैवयोग से हमला नहीं हुआ। प्रात: देखा गया कि बिना बमबारी के खाई गिरकर पट गई है। खाई बनाने वालों तथा उसे पास करने वालों की यह अक्षम्य लापरवाही थी। यदि वे उस रात खाई के अंदर होते तो क्या होता? सोचकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। देश के प्रधानमंत्री का जीवन कितना मूल्यवान होता है? वह भी युद्धकाल में?

अन्य व्यवस्था अधिकारियों ने भले ही इस प्रसंग पर कोई कार्रवाई की हो, किंतु शास्त्रीजी ने संबंधित व्यक्तियों के प्रति कोई कठोरता नहीं बरती, अपितु बालकों की भाँति क्षमा कर दिया।

दूसरी घटना भी सन् १९६५ की ही है। युद्धकाल था ही, चौबीस घंटों में कभी भी कैबिनेट की इमरजेंसी मीटिंग हो जाती थी। उस दिन भी संध्या समय मीटिंग थी। कड़ाके की ठंढ थी, किंतु उत्तरदायित्व के प्रति सजग तथा समय के पाबंद हमारे तत्कालीन प्रधानमंत्री नियत समय पर मीटिंग के लिए चल दिए। जाकर कार में बैठ गए। पर जब बड़ी देर हो गई और कार खड़ी ही रही तो उन्होंने इस संबंध में पूछताछ की और देर होने की बात भी कही।

तब कहीं संयोजक महोदय ने बताया कि मीटिंग तो आज उन्हीं के घर पर है। कोई दूसरा प्रधानमंत्री होता तो यों अपना समय नष्ट करने पर संबंधित अधिकारी को अवश्य ही प्रताड़ित करता, किंतु वे दूसरों की त्रुटियों को माँ जैसी ममतापूर्वक ही सहन कर जाते थे।

आमतौर पर ऐसा होता है कि लोग घर में तो अधिकार, आज्ञा तथा डाट-फटकार से काम लेते हैं और बाहर सज्जनता तथा उदारता के प्रतीक बने रहते हैं, किंतु शास्त्रीजी इसके अपवाद थे। वे स्वभाव से ही उदार तथा सहिष्णु थे।

ताशकंद जाने के एक दिन पूर्व वे भोजन कर रहे थे। उस दिन उनकी पसंद का भोजन था। खिचड़ी तथा आलू का भरता। ये दोनों वस्तुएँ उन्हें सर्वाधिक प्रिय थीं। बड़े प्रेम से खाते रहे। जब खा चुके उसके बड़ी देर बाद उन्होंने वही प्रसंग आने पर बड़े ही सहज भाव से श्रीमती ललिता जी से पूछा—"क्या आज आपने खिचड़ी में नमक नहीं डाला था?" ललिता जी को बड़ा खेद हुआ अपनी गलती पर, किंतु वहाँ न कोई शिकायत थी न क्रोध। मुस्कराते ही रहे वे फीकी खिचड़ी खाकर।

दूसरों की गलतियों को भी क्षमा कर देना तथा बजाय डाट-फटकार या चिल्ल-पुकार मचाने के प्रेमपूर्वक बता देना निश्चय ही एक महान गुण है। शास्त्रीजी सहनशीलता के प्रतीक थे।

❑

परमार्थ की प्राथमिकता

जुटफेन का युद्ध स्थल। सनसनाती हुई गोलियों की आवाज। सेना के प्रधान अधिकारी सर फिलिप सिडनी बड़ी बहादुरी से युद्धरत थे। अनेक सैनिकों को युद्धस्थल में उनके द्वारा मार्गदर्शन मिल रहा था। शत्रु पक्ष की ओर से आई हुई एक गोली उनकी जाँघ में लगी और हड्डी के दो टुकड़े करके पार निकल गई।

रक्त की धार फूट पड़ी, युद्ध करने का उनमें साहस न रहा। बचने की भी कोई आशा न रही। युद्ध में गिरकर प्राण देने की अपेक्षा उन्होंने कैंप में लौटना ज्यादा अच्छा समझा। उनका समझदार घोड़ा, उन्हें लेकर पीछे लौट पड़ा। वह शिविर तक अभी न आ पाए थे कि वह बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़े। जब मूर्च्छा टूटी तो उन्होंने संकेत से पानी पीने की इच्छा व्यक्त की। दौड़ा-दौड़ा एक सैनिक गया और दूर कहीं जलाशय से पानी लाया। पानी का पात्र होठों से लगाया ही था, तब तक उनके कानों में पास पड़े दूसरे सैनिक की आवाज आई जो पानी-पानी चिल्ला रहा था, पर घायल होने के कारण उठकर पानी पीने की स्थिति में न था।

सिडनी ने सोचा मेरा तो जीवन वैसे ही समाप्त हो रहा है। शरीर का सारा रक्त निकल चुका है। यह पानी मुझमें पुनः जीवन न डाल सकेगा, मरते दम तक मेरी प्यास भले ही बुझा दे। मगर यह पानी पास का घायल सैनिक पी लेगा तो शायद उसका जीवन बच सके और मातृभूमि की रक्षा में पुनः योगदान दे सके। सिडनी ने पानी का गिलास अपने होठों से हटा दिया और धीरे से कहा—"यह पानी उस सिपाही को पिला दो।" अनेक सैनिकों ने इस बात का आग्रह किया कि आपका महत्त्व एक साधारण सैनिक से कहीं अधिक है, आप पहले पानी पी लीजिए, उस सैनिक के लिए भी पानी की व्यवस्था की जाएगी।

सिडनी ने कहा—"आप मुझे इसीलिए तो अधिक महत्त्व देते है कि मैं आप सबकी तकलीफों को अपनी तकलीफ

समझता हूँ और सबको सच्चे हृदय से प्यार करता हूँ। यदि ऐसा कोई गुण आप मुझ में न देखें तो भला मुझे कौन बड़ा मानेगा और मेरा क्या मूल्य रहेगा? यदि आप सब एक सैनिक से बड़ा मानते हैं तो मेरा बड़प्पन भी इसी में है कि पानी उस सैनिक को पीने दूँ।"

सिडनी की आज्ञा से यह पानी उस प्यासे सैनिक को पिला दिया गया और दूसरी बार एक अन्य सैनिक उसी जलाशय से पानी लेकर लौटा, तब तक तक सिडनी अपने प्राण त्याग चुके थे। सिडनी के इस उदार व्यवहार के कारण वे आज भी स्मरण किए जाते हैं।

❑

अपव्ययता किसी की भी न चली

हिंदी के अनन्य सेवक भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र विचारवान थे, उसके कारण उन्हें सार्वजनिक प्रतिष्ठा और सम्मान भी मिला, धन भी बहुत कमाया, किंतु अपव्यय के एक दुर्गुण ने ही उनके जीवन को दुर्दशाग्रस्त बना दिया। घर आए धन की होली फूँकने, अंधाधुंध खरच करने से तो महाराजे भी कंगाल हो जाते हैं। भारतेंदु बाबू उक्त कथन के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

पैतृक संपत्ति के रूप में उन्हें धन की कमी पहले ही न थी। अपने साहित्यिक उपार्जन से भी उन्होंने अपना कोष बढ़ाया। वह सब धन किसी बैंक या पोस्ट ऑफिस में जमा कर देते तो उसके ब्याज में सारा जीवन हँसी-खुशी और मस्ती में बिता लेते, पर अपव्यय की बुरी लत ने उन्हें ऐसा पछाड़ा कि मरते समय उनके पास कानी कौड़ी भी शेष न थी।

भारतवर्ष एक निर्धन देश है, यहाँ के नागरिकों को साधारण मोटा-मोटा खाना और कपड़ा प्रयोग करना चाहिए, पर भारतेंदु बाबू बहुत कीमती कपड़े पहनते, खाना इतना मसालेदार और स्वादिष्ट

बनता कि कोई राजा-महाराजा भी वैसा खाता होगा? प्रतिदिन दिन में कई बार अंगराग और कीमती सुगंधित तेलों की मालिश कराते। भोजन, वस्त्र, फुलेल की इतनी मात्रा खरीदी जाती कि स्वयं के पास प्रतिदिन कई चाटुकार और झूठे प्रशंसक भी उनका उतना ही आनंद लूटते।

दीपक में फुलेल जलता, रोशनदानों के कपड़े रोज बदले जाते। जूते तो धनी आदमी भी पाँच-छह महीने पहन लेते हैं, पर भारतेंदु बाबू के लिए इतने दिनों के लिए ४-५ जोड़ी जूते-चप्पल भी कम रहते। आखिर धन की, आय की भी मर्यादा है। उस सीमा के भीतर पाँव न रखने से तो आर्थिक दुर्गति होती ही है।

जाड़े की रात्रि थी। कुछ लोग बाहर से मिलने आए थे। झूठे दंभ के लिए अपने को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर व्यक्त करने वालों के पीछे उचक्कों की कमी नहीं रहती। वे प्रायः झूठी प्रशंसा करके अपना उल्लू सीधा करते हैं। वह सज्जन उसी में अपना गौरव मानते हैं। ऐसे समय थोड़ा भविष्य पर भी विचार कर लिया करें तो संभवतः लोग परेशानियों से पहले ही बच लें। भारतेंदु पढ़े-लिखे थे, पर दूरदर्शी नहीं। उन लोगों ने आते ही उनकी उदारता की झूठी प्रशंसा प्रारंभ कर दी। इधर हाथ सेंकने के लिए अँगीठी की आवश्यकता पड़ी। अँगीठी इधर-उधर दिखाई न दी तो उसे और बढ़कर ढूँढ़ना अपना अपमान जान पड़ा। शेखी में आकर जेब से नोट निकालकर उन्हीं में आग लगा दी और अपने हाथ सेंके। हम नहीं समझते दर्शकों पर इसका क्या प्रभाव पड़ा होगा? भीतर-ही-भीतर ऐसी मूर्खता पर वे हँसे ही होंगे।

इस तरह की संगति और जीवन क्रम के कारण उनमें चरित्र-दोषी भी आ गए। हितैषियों ने समझाया—"भैया हाथ रोककर खरच किया करो, लुटाया नहीं जाता, न जाने आगे कैसी स्थिति आ जाए?" पर भारतेंदु जी की बुद्धि ने सही काम न किया।

अपव्यय के दुर्गुणों ने उन्हें शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टि से विक्षिप्त कर दिया। वे तीस वर्ष की आयु में ही मर गए। जीवन के अंतिम दिनों में उन्हें पैसे-पैसे के लिए दूसरे साथियों के आगे हाथ फैलाना पड़ा। ऐसे पत्र सुरक्षित हैं, जिनमें उन्होंने आर्थिक सहायता की याचना की है; पर यहाँ इस संसार में अपनी-अपनी आवश्यकताओं से ही सभी तंग हैं, दूसरों की कौन देखे? कौन सहायता करे?

मृत्यु के क्षणों में भारतेंदु बाबू ने कहा—"किसी के पास धन और साधन कितने ही बड़े क्यों न हों, उनका खरच और उपयोग बहुत हाथ साधकर सावधानी के साथ भविष्य की चिंता रखकर ही करना चाहिए।" यह बात पहले समझ में आई होती तो यह दुर्दशा न होती।

❑

सादगी और कम खरची का अनुकरणीय आदर्श

वे राज्यों के दौरे पर थे। बिहार राज्य के शहर राँची पहुँचने तक जूता दाँत दिखाने लगा। काफी घिस जाने के कारण कई कीलें निकल आई थी इसलिए राँची में दूसरा जूता-जोड़ा बदलने की व्यवस्था की गई।

यह तो वह फजूलखरची लोग होते हैं, जो आय और औकात की परवाह किए बिना आमदनी से भी अधिक खरच विलासितापूर्ण सामग्रियों में करते हैं। इस तरह वे व्यवस्था संबंधी कठिनाइयों और कर्ज के भार से तो दबते ही हैं, शिक्षा, पौष्टिक आहार, औद्योगिक एवं आर्थिक विकास से भी वंचित रह जाते हैं। मितव्ययी लोग थोड़ी सी आमदनी से ही जैसी शान की जिंदगी बिता लेते हैं, फजूलखरची लंबी आमदनी वालों को वह सौभाग्य कहाँ नसीब होता है?

इनके लिए तो यह बात भी नहीं थी। आय और औकात दोनों ही बड़े आदमियों जैसे थे, पर वे कहा करते थे कि दिखावट और फजूलखरची अच्छे मनुष्यों का लक्षण नहीं, वह चाहे कितना ही बड़ा आदमी क्यों न हो! फजूल खरच करने वाला समाज का अपराधी है, क्योंकि वह बढ़े हुए खरचे की पूर्ति अनैतिक तरीके से नहीं तो और कहाँ से करेगा? मितव्ययी आदमी व्यवस्था और उल्लास की, बेफिक्री और स्वाभिमान की जिंदगी बिताता है। क्या हुआ यदि साफ कपड़ा चार दिन पहन लिया जाए, इसके बजाय कि केवल शौक, फैशन और दिखावट के लिए दिन में चार कपड़े बदले जाएँ, रोजाना धोबी का धुला कपड़ा पहना जाए।

हर वस्तु का उपभोग तब तक करना चाहिए, जब तक उसकी उपयोगिता पूरी नष्ट न हो जाए। कपड़ा सीकर दो माह और काम दे जाए तो सिला कपड़ा पहनना अच्छा, बजाय इसके कि नए कपड़े के लिए १० रुपए बेकार खरच किए जाएँ।

इस आदर्श का उन्होंने अपने जीवन में अक्षरशः पालन भी किया था। उनका प्रमाण राँची वाले जूते थे। बस यहाँ तक का उनका जीवन था, अब उन जूतों को हर हालत में बदल डालने की उन्होंने भी आवश्यकता अनुभव की।

उनके निजी सचिव गए और अच्छा सा मुलायम १९ रुपए का जूता खरीद लाए। उन्होंने सोचा था, यह जूते उनके व्यक्तित्व के अनुरूप फबेंगे, पर यहाँ तो उलटी पड़ी। उन्होंने कहा—जब ग्यारह रुपए वाले जूते से काम चल सकता है तो फिर १९ रुपए व्यय करने की क्या आवश्यकता है? मेरा पैर कड़ा जूता पहनने का अभ्यस्त है, आप इसे लौटा दीजिए।

निजी सचिव अपनी मोटर की ओर बढ़े कि यह जूता बाजार जाकर वापस लौटा आएँ। पर वह ऐसे नेता नहीं थे। आजकल के नेताओं की तरह १ की जगह ४ खरच करने, प्रजा का धन होली की तरह फूँकने की मनमानी नहीं थी। उनमें प्रजा के धन की रक्षा की

भावना थी। राजा ही सदाचरण नहीं करेगा तो प्रजा उसका परिपालन कैसे करेगी, इसलिए जान-बूझकर उन्होंने अपने जीवन में आडंबर को स्थान नहीं दिया था और हर समय इस बात का ध्यान रखते थे कि मेरी प्रजा का एक पैसा भी व्यर्थ बरबाद न हो।

उन्होंने सचिव को वापस बुलाकर कहा—"दो मील जाकर और दो मील वापस लौटकर जितना पेट्रोल खरच करेंगे, बचत उससे आधी होगी तो ऐसी बचत से क्या फायदा? सब लोग उनकी विलक्षण सादगी और कमखरची के आगे नतमस्तक हुए।"

आप जानना चाहेंगे कि वह कौन था? सादगी और कमखरची की प्रतिमूर्ति—डॉ० राजेंद्रप्रसाद, भारतवर्ष के राष्ट्रपति रहकर भी जिन्होंने धन के सदुपयोग का अनुकरणीय आदर्श अपने जीवन में प्रस्तुत किया।

❑

'जाओ करो नहीं, आओ करो'

कीचड़ में फँसे लकड़ी के लट्ठे उठाकर इमारत तक पहुँचाने थे। एक लकड़ी का लट्ठा काफी वजनदार था। आठ-दस सिपाही अपनी संपूर्ण शक्ति से उठाने का प्रयत्न कर रहे थे। लट्ठा जमीन छोड़ तो रहा था, पर पूरी तरह उठ नहीं पाता था। सिपाहियों की सम्मिलित शक्ति भी कुछ कर नहीं पा रही थी।

पास ही खड़े अफसर ने सिपाहियों को डाँटा—"मूर्खो इतने लोग लगे हो फिर भी लकड़ी नहीं उठा पा रहे हो।" सिपाहियों ने पुनः पूरा जोर लगाया। लट्ठा पेट तक उठाए रख सकना कठिन हो गया और वह उनके हाथ से बरबस छूटकर फिर कीचड़ में जा गिरा।

अफसर के रोष का ठिकाना न रहा वह चाहता था कि लट्ठा तुरंत उठ ही जाना चाहिए। यह तो नहीं कि कोई युक्ति सोचता, नई शक्ति जुटाता, सिपाहियों के हौसले बढ़ाता, उन्हें शाबासी देता,

उलटे आफिसरी का रोब दिखाता रहा। धैर्य और साहस दिखाने की एक शक्ति होती है, वह अपनी और अपने से छोटे सहयोगियों एवं कर्मचारियों का साहस बढ़ाती है और उससे कर्त्तव्य भावना उद्दीप्त होती है। प्रेम और स्नेह से जो काम कराए जा सकते हैं, वह बलपूर्वक नहीं। उससे तो शक्ति टूटती ही है, यह बात उन सब लोगों को याद रखनी चाहिए, जो बड़ी जिम्मेदारियाँ कंधों पर सँभाले हैं। अफसर या प्रशासक हैं।

सिपाही प्रसन्नता से काम कर रहे होते तो लट्ठा कबका उठ गया होता, पर हुक्म चलाने की दांभिकता ने उनका सारा उत्साह शिथिल कर रखा था। इसलिए खींचातानी करने पर भी वह नहीं ही उठ पाया। अफसर उन्हें और भी बुरी तरह डाँटने-फटकारने लगा। तभी उधर से घोड़े पर चढ़ा नवयुवक आता दिखाई दिया। अफसर के पास आकर, वह सादे वेश का घुड़सवार शांति और धैर्य के साथ नीचे उतरा और गंभीर स्वर में बोला— "भाई! जिस तरह आप इन्हें डाँट रहे हैं, उस तरह काम नहीं होता। थोड़ा आप भी हाथ लगा देते तो लट्ठा कबका उठ गया होता काम से आदमी की शान नहीं घटती और न आपकी पदवी छोटी हो जाती। इससे सिपाहियों में आपका सम्मान और स्वामिभक्ति ही बढ़ती।"

देखो—'जाओ करो' कहने की अपेक्षा 'आओ करें'—की शक्ति बड़ी होती है, उससे अधिक और सुव्यवस्थित काम संपन्न होते हैं। यह कहकर नवागंतुक ने घोड़े की रास वहीं छोड़ दी और काम करते सिपाहियों में जा मिला, फिर हँसकर कहा— देखो भाईयो, अब हमारी शक्ति बढ़ गई, यह अकेला लट्ठा अपने को बलवान न कहने पाए। सब सिपाही इस मसखरेपन पर मुस्कराए बिना न रह सके और इसके बाद सबने एक जयकारा लगाकर जो लट्ठे को उठाया तो वह पलक मारते सीधे हाथों आकाश की ओर उठ गया। प्रसन्नता और सफलता से सबके

चेहरे खिल उठे। जो काम ३ घंटे से रुका पड़ा था, वही काम चंद मिनटों में पूरा हो गया।

आगुंतक ने पानी में हाथ-पाँव धोए और फिर घोड़े पर सवार होकर—उस अफसर की ओर संकेत करके बोला—"देखो भाई! काम कराने का असली गुरुमंत्र यह है कि आपको भी सहयोग देकर काम का मूल्य बढ़ाना चाहिए और उसके बोझीलेपन को कम करना चाहिए।"

शाम को उस अफसर को पता चला कि नवागुंतक कोई और नहीं था, वरन उन्हीं का सेनापति जार्ज वाशिंगटन था। वह अफसर अपनी दांभिकता पर बड़ा लज्जित हुआ। उसने अनुभव किया कि बड़े आदमी पद से ही नहीं, कर्त्तव्य भावना से बड़े होते हैं। यदि किसी को केवल अभिमान है, तो किसी भी बड़े पद पर होकर वह बड़ा नहीं।

❑

नियमबद्धता और कर्त्तव्यपरायणता बड़प्पन का आधार

मैसूर के दीवान की हैसियत से वे राज्य का दौरा कर रहे थे। एक गाँव में वे अकस्मात बीमार पड़ गए। ऐसा तेज ज्वर चढ़ा कि दो दिन तक चारपाई से न उठ सके। गाँव के डॉक्टर को बीमारी का पता चला तो भागा-भागा आया और उनकी देखभाल की। उसके अथक परिश्रम से वे अच्छे हो गए।

डॉक्टर चलने लगे तो उन्होंने २५ रुपए का एक चेक उनकी फीस के बतौर हाथ में दिया। डॉ० हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और कहने लगा—"साहब! यह तो मेरा सौभाग्य था कि आपकी सेवा करने का अवसर मिला। मुझे फीस नहीं चाहिए।"

चेक हाथ में थमाते हुए उन्होंने कहा—"हर बड़े आदमी की कृपा छोटों के लिए दंड होती है। आप ऐसे अवसरों पर फीस

इसलिए ले लिया कीजिए, ताकि गरीबों की बिना फीस सेवा भी कर सकें। ऐसा न किया कीजिए कि दवाएँ किसी और पर खरच कर पैसे किसी और से वसूल करें।''

यह थी उनकी महानता। जहाँ बड़े लोग अपनी सेवा मुफ्त कराने, अनुचित और अत्यधिक सम्मान पाने में बड़प्पन मानते हैं, वहाँ उन्होंने परिश्रम, नियमितता और कर्त्तव्यपालन में ही गौरव अनुभव किया, यदि यह कहा जाए कि अपने इन्हीं गुणों से उन्होंने एक साधारण व्यक्ति से उठकर देश के सर्वाधिक ख्याति-लब्ध इंजीनियर का पद पाया तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। वे नियम पालन में डॉक्टर के सामने क्या ? बड़े-बड़े व्यक्ति के सामने भी उतने ही तटस्थ रहे। कभी लचीलापन व्यक्त नहीं किया।

उन्हें भारत-रत्न की उपाधि दी गई। अलंकरण समारोह में उपाधि ग्रहण करने के लिए वे दिल्ली आए। नियम है कि जिन्हें भारत-रत्न की उपाधि से विभूषित किया जाता है, वे राष्ट्रपति के अतिथि होते हैं और राष्ट्रपति भवन में ही निवास करते हैं। उन्हें भी वहीं ठहराया गया। राष्ट्रपति डॉ० राजेंद्र प्रसाद प्रतिदिन उनसे मिलते थे और उनकी सान्निध्यता में हर्ष अनुभव करते थे।

एक दिन जब राष्ट्रपति उनसे मिलने गए तो उन्होंने देखा कि वे अपना सामान बाँध रहे हैं और जाने की तैयारी कर रहे हैं। उन्होंने आते ही पूछा—''आप यह क्या कर रहे हैं? अभी तो आपका ठहरने का कार्यक्रम है।''

उन्होंने उत्तर दिया—''हाँ, है तो पर अब कहीं दूसरी जगह ठहरना पड़ेगा। यहाँ का यह नियम है कि कोई व्यक्ति तीन दिन से अधिक नहीं ठहर सकता। राष्ट्रपति बोले—''आप तो अभी यहीं रुकिए।'' तो उन्होंने कहा—''नियम के सामने छोटे-बड़े सब एक हैं। मैं आपका स्नेह पात्र हूँ, इस कारण नियम का उल्लघंन करूँ तो सामान्य लोग दुखी न होंगे क्या?'' और यह कहकर उन्होंने अपना सामान उठवाया, बाबूजी को

प्रणाम किया और वहाँ से चले आए। शेष दिन दूसरी जगह ठहरे, पर राष्ट्रपति के बहुत कहने पर भी वहाँ न रुके।

नियम पालन से मनुष्य बड़ा बने, केवल पद और प्रतिष्ठा पा लेना ही बड़प्पन का चिन्ह नहीं। सूर्य, चंद्रमा तक जब सनातन नियमों की अवहेलना नहीं करते हुए पूज्य और प्रतिष्ठित हैं तो समुचित कर्त्तव्य और नियमों के पालन से मनुष्य का मूल्य कैसे घट सकता है ? भले ही काम कितना ही छोटा क्यों न हो ?

वह थे देश के महान इंजीनियर '**मोक्षगुंडम् विश्वेश्वरैया**', जिनकी प्रतिष्ठा और प्रशंसा भारतवर्ष ही नही, इंगलैंड और अमेरिका तक में होती थी। पद के लिए नहीं वरन कार्यकुशलता, नियम पालन, अनुशासन और योग्यता जैसे गुणों के लिए।

❑

जीवन-समर्पण की अनोखी पुण्य-प्रक्रिया

बात बहुत पुरानी है। नालंदा विश्वविद्यालय के विद्यार्थी उमंग भरे हृदयों से चीनी पर्यटक ह्वेनसांग को भाव-भीनी विदाई देने जा रहे थे। सिंधु नदी के जल पर हिलती-डोलती एक नौका चल रही थी। नौका में बैठे हुए विद्यार्थी ह्वेनसांग के साथ विद्या-विनोद तथा धर्म-चर्चाएँ कर रहे थे। नाव किनारे की ओर तेजी से बढ़ती जा रही थी।

इतने में एकाएक एक भारी तूफान का झोंका आया। नौका तेजी से हिलने-डुलने लगी। अब डूबी का भय दिखाई देने लगा। नाविकों ने नौका को स्थिर रखने का जी तोड़ प्रयत्न किया, पर दुर्भाग्य से सब प्रयास विफल हुए।

और नौका में भार भी क्या कम था ? ह्वेनसांग भारत भर में घूमे थे और जहाँ भी उन्होंने भगवान तथागत की अद्भुत मूर्ति देखी या अप्राप्य ग्रंथ देखा, उसे तत्काल अपने साथ ले आए थे। जो अप्राप्य

ग्रंथ प्राप्त न हो सका, उसकी वहीं कई दिन बैठकर नकल की। ऐसे अप्राप्य ग्रंथ केवल दस-बीस नहीं थे। अच्छे खासे ६५७ ग्रंथ और भगवान बुद्ध की लगभग डेढ़ सौ नयन मनोहर ध्यानस्थ मूर्तियाँ नौका में रखी हुई थीं।

दैवयोग से तूफान का जोर बढ़ता गया। नाविकों के सब प्रयत्न बेकार साबित हुए। अंत में उनकी दृष्टि नौका में भरी पुस्तकों और मूर्तियों पर पड़ी। उन्होंने कहा—"अब बचने का केवल एक ही मार्ग है। इन सारी पुस्तकों और मूर्तियों को जल में फेंक दो तो भार कुछ कम हो जाएगा और नाव धीरे-धीरे किनारे तक पहुँच जाएगी।"

एक नाविक ने तो ग्रंथों का एक बंडल नदी में फेंकने के लिए उठा ही लिया था। यह दृश्य देखकर ह्वेनसांग तथागत की मन-ही-मन प्रार्थना करने लगा—"भगवान! मुझे मृत्यु का तनिक भी भय नहीं है। मुझे भय केवल इसी बात का है कि अपने देश के लिए मैंने इतना कष्ट उठाकर जो यह अमूल्य सामग्री उपलब्ध की है, वह सब एक पल में नष्ट हो जाएगी।"

फिर ह्वेनसांग ने खड़े होकर शांति से कहा—"नौका में से भार ही हलका करना है न? तो मैं स्वयं जल में कूद पड़ता हूँ।"

"नहीं मानव-जीवन बड़ी कीमती वस्तु है। भार तो इन पुस्तकों और मूर्तियों से कम करो। इसके बिना नौका किनारे तक पहुँचना संभव नहीं है।" नाविकों ने कहा।

ह्वेनसांग बोला—"मेरे मन में इस देह का कोई महत्त्व नहीं। महत्त्व तो इन संस्कारवान वस्तुओं का है।"

इस वार्तालाप से नालंदा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को सहसा प्रकाश मिला। एक वृद्ध चीनी यात्री की वर्षों की मेहनत इस तरह पानी में जाएगी। जो यह चीनी यात्री ही इन संस्कारी वस्तुओं के लिए आत्मसमर्पण कर देगा तो हमारे भारत की आतिथ्य परंपरा का क्या महत्त्व रहा?

विद्यार्थियों ने मूक भाषा में संकेत में आपस में बातचीत कर ली। उनमें से एक तेजस्वी बालक खड़ा हुआ। दोनों हाथ जोड़कर सबसे अभिवादन करते हुए उसने कहा—"भदंत! भारतवर्ष की भूमि से आपने जो यह संस्कार निधि एकत्र की है वह केवल नौका में भार के कारण डूब जाए, यह हमारे लिए असह्य है।" इतना कहकर वह युवक सिंधु नदी की अथाह धारा में कूद पड़ा। उसके बाद सभी विद्यार्थी भी जल में कूदकर लुप्त हो गए।

नाविक तो इस समर्पण का अद्‌भुत दृश्य फटी आँखों से देखते ही रहे। जीवन-समर्पण की यह अनोखी पुण्य-प्रक्रिया देखकर ह्वेनसांग की आँखों से भी अवरिल अश्रुधारा बहने लगी।

यह वह उज्ज्वल परंपरा थी, जिसने न केवल ह्वेनसांग जैसे विदेशी मनीषी को ही प्रभावित किया, अपितु संसार में भारत की सांस्कृतिक गरिमा का उच्च आदर्श प्रस्थापित किया।

❑

धर्म एक और सनातन है

गाँधी जी दक्षिण अफ्रीका में थे। अफ्रीकियों के स्वत्वाधिकार के लिए उनका आंदोलन सफलतापूर्वक चल रहा था। ब्रिटिश सरकार के इशारे पर एक दिन मीर आलम नामक एक पठान ने गांधी जी पर हमला कर दिया। गांधी जी गंभीर रूप से घायल हुए। मनुष्य का सत्य, और सच्ची धार्मिकता का मार्ग है ही ऐसा कि इसमे मनुष्य को सुविधाओं की अपेक्षा कष्ट ही अधिक उठाने पड़ते है।

पर इससे क्या, उच्च आत्माएँ कभी अपने पथ से विचलित हो जाती हैं क्या? बुराई की शक्ति अपना काम बंद नहीं करती तो फिर भलाई की शक्ति तो सौगुनी अधिक है, वह हार क्यों मानने लगे? गांधी जी को स्वदेश लौटने का आग्रह किया गया पर वे न लौटे।

घायल गांधी जी पादरी जोसेफ डोक के मेहमान बने और कुछ ही दिनों में यह संबंध घनिष्ठता में परिवर्तित हो गया।

पादरी जोसेफ डोक यद्यपि बैपटिस्ट पंथ के अनुयायी और धर्मगुरु थे, तथापि गांधी जी के संपर्क से वे भारतीय धर्म और संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित हुए। वे धीरे-धीरे भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम का भी समर्थन करने लगे।

पादरी डोक के एक अंगरेज मित्र ने उनसे आग्रह किया कि वे भारतीयों के प्रति इतना स्नेह और आदर भाव प्रदर्शित न करें अन्यथा जातीय कोप का भाजन बनना पड़ सकता है, इस पर डोक ने उत्तर दिया—मित्र क्या अपना धर्मपीड़ितों और दु:खियों की सेवा का समर्थन नहीं करता? क्या गिरे हुओं को ऊपर उठाने में मदद देना धर्मसम्मत नहीं? यदि ऐसा है तो मैं अपने धर्म का ही पालन कर रहा हूँ। भगवान ईसा भी तो ऐसा ही करते हुए सूली पर चढ़े थे, फिर मुझे घबराने की क्या आवश्यकता?

मित्र की आशंका सच निकली, कुछ ही दिनों में गोरे उनके प्रतिरोधी बन गए और उन्हें तरह-तरह से सताने लगे। ब्रिटिश अखबार उनकी सार्वजनिक निंदा और अपमान करने से नहीं चूकते थे, लेकिन इससे पादरी डोक की सिद्धांतनिष्ठा में कोई असर नहीं पड़ा। बहुत सताए जाने पर भी वे भारतीयों का समर्थन भावनापूर्वक करते रहे।

गांधी जी जहाँ उनके इस त्याग से प्रभावित थे, वहाँ उन्हें इस बात का दु:ख भी बहुत अधिक था, वे पादरी डोक को उत्पीड़ित नहीं देखना चाहते थे। इसलिए जिस तरह एक मित्र अपने मित्र के प्रति संवेदना रखता है, गांधी जी भी उनके पास गए और बोले—आपको इन दिनों अपने जाति भाइयों से जो कष्ट उठाने पड़ रहे हैं, उसके कारण हम भारतीयों की ओर से आपका आभार मानते हैं,पर आपके कष्ट हमसे नहीं देखे जाते। आप

हमारा समर्थन बंद कर दें। परमात्मा हमारे साथ है—यह लड़ाई भी हम लोग निवट लेंगे।

इस पर पादरी डोक ने कहा—"पीड़ित मानवता की सेवा।" फिर यदि सांप्रदायिक सिद्धांतों की अवहेलना करके मैं सच्चे धर्म का पालन करूँ तो इसमें दुःख करने की क्या बात और फिर यह तो मैं **स्वांतः सुखाय** करता हूँ। मनुष्य धर्म की सेवा करते आत्मा को जो पुलक और प्रसन्नता होनी चाहिए, वह प्रसाद मुझे मिल रहा है, इसलिए बाह्य अड़चनों, दुःखों और उत्पीड़नों की मुझे किंचित भी परवाह नहीं।

पादरी डोक अंत तक भारतीयों का समर्थन करते रहे। उन जैसे महात्माओं के आशीर्वाद का फल है कि हम भारतीय आज अपने धर्म, आदर्श और सिद्धांतों पर निष्कंटक चलने के लिए स्वतंत्र हैं।

❑

व्यवस्थित जीवन की कुंजी— समय की पाबंदी

नियमपूर्वक तथा समय पर काम करने से सब काम भली प्रकार हो जाते हैं। जो लोग समय के पाबंद नहीं होते, उनके आधे काम अधूरे और हमेशा धमा-चौकड़ी मची रहती है। काम अच्छी तरह समाप्त हो जाता है तो उत्साह भी मिलता है और प्रसन्नता भी होती है। काम पूरा न होने से असंतोष और अप्रसन्नता होती है, विचारवान व्यक्ति सदैव समय का पालन करते हैं। इस तरह दूसरी व्यवस्थाओं और प्रबंध के लिए भी समय बचाए रखते हैं।

अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन के जीवन की एक घटना से समय की पाबंदी की उपयोगिता का प्रकाश मिलता है। एक बार उन्होंने कुछ मेहमानों को तीन बजे भोजन के लिए

आमंत्रित किया। साढ़े तीन बजे सैनिक कमांडरों की एक आवश्यक बैठक में भाग लेना था।

नौकर जानता था कि जार्ज साहब समय की नियमितता को कितनी दृढ़ता से निभाते हैं? ३ बजे ठीक मेज तैयार हो गई, सूचना दी गई—तीन बज गए, अभी तक मेहमान नहीं आए।

एकबारगी वाशिंगटन के मस्तिष्क में एक चित्र उभरा—"मेहमानों की प्रतीक्षा न की गई तो वे अप्रसन्न हो जाएँगे तो फिर क्या बैठक स्थगित करें। यह समय सारे राष्ट्र के जीवन से संबंधित है। क्या राष्ट्रहित को दो-तीन व्यक्तियों की प्रसन्नता के लिए उत्सर्ग करना बुद्धिमानी होगी।"

हृदय ने दृढ़तापूर्वक कहा—"नहीं नहीं, जब परमात्मा अपने नियम से एक सेकंड आगे-पीछे नहीं होता, जिस दिन जितने बजे सूरज को निकलना होता है, बिना किसी की परवाह किए वह उतने ही समय उग आता है तो मुझे ही ईश्वरीय आदेश का पालन करने में संकोच या भय क्यों होना चाहिए?"

ठीक है—नौकर को संबोधित कर उन्होंने कहा—"शेष प्लेटें उठा लो, हम अकेले ही भोजन करेंगे। मेहमानों की प्रतीक्षा नहीं की गई।"

आधा भोजन समाप्त हो गया तब मेहमान पहुँचे। उन्हें बहुत दु:ख हुआ देर से आने का, कुछ अप्रसन्नता भी हुई, वे भोजन में बैठ गए, तब तक वाशिंगटन ने अपना भोजन समाप्त किया और निश्चित समय विदा लेकर उस बैठक में भाग लिया।

मेहमान इसी बात पर रुष्ट थे कि उनकी १५ मिनट प्रतीक्षा नहीं की गई, अब और भी कष्ट हुआ, क्योंकि मेहमानों से पहले वे भोजन समाप्त कर वहाँ से चले भी गए। किसी तरह भोजन करके वे लोग भी अपने घर लौट गए।

सैनिक कमांडरों की बैठक में पहुँचने पर उन्हें पता चला कि यदि वे नियत समय पर नहीं पहुँचते तो अमेरिका के एक भाग से भयंकर विद्रोह हो जाता। समय पर पहुँच जाने के कारण स्थिति सँभाल ली गई और एक बहुत बड़ी जन-धन की हानि को बचा लिया गया।

इस बात का पता कुछ समय बाद उन मेहमानों को भी चला तो उन्हें समय की नियमितता का महत्त्व मालूम पड़ा। उन्होंने अनुभव किया कि प्रत्येक काम निश्चित समय पर करने, उसमें आलस्य-प्रमाद या ढील न देने से भयंकर हानियों को रोका जा सकता है और जीवन को सुचारु ढंग से जिया जा सकता है।

वे फिर से राष्ट्रपति के घर गए और उनसे उस दिन हुई भूल की क्षमा माँगी। राष्ट्रपति ने कहा—"इसमें क्षमा जैसी तो कोई बात नहीं है, पर हाँ! जिन्हें अपने जीवन की व्यवस्था, परिवार, समाज और देश की उन्नति का ध्यान हो, उन्हें समय का कड़ाई से पालन करना चाहिए।"

❑

सत्य—मेरा जीवन-मंत्र

दादा मावलंकर जिस अदालत के वकील थे, उसका मजिस्ट्रेट उनका कोई घनिष्ठ मित्र था। यों वकालत के क्षेत्र में उन्हें पर्याप्त यश और सम्मान भी बहुत मिला था। संपत्ति भी उनके पास थी, पर यह सब कुछ उनके लिए तब तक था, जब तक उनके साँच को आँच न आने पाती थी। वे कोई झूठा मुकदमा नहीं लेते थे और सचाई के पक्ष में कोई भी प्रयत्न छोड़ते नहीं थे।

यह उदाहरण उन सबके लिए आदर्श है, जो यह कहते हैं—"आज का युग ही ऐसा है, झूठ न बोलो, मिलावट न करो तो काम नहीं चलता।" सही बात तो यह कि झूठे, चापलूस और अपना स्वार्थ सिद्ध करने वालों के जीवन सदैव टकराते रहते हैं। विषाद,

क्षोभ, ग्लानि, अपमान, अशांति और पश्चाताप की परिस्थितियाँ बनावटी लोगों के पास ही आती हैं। सच्चे व्यक्तियों के जीवन में बहुत थोड़ी अशांति, अव्यवस्था और तंगी रहती है। अधिकांश तो शान और स्वाभिमान का ही जीवन जीते हैं।

वैसे ही मावलंकर जी भी थे। एक बार उनके पास बेदखली के लगभग ४० मुकदमे आए। मुकदमे लेकर पहुँचने वाले लोग जानते थे कि कलक्टर साहब मावलंकर जी के मित्र हैं। इसलिए सुनिश्चित जीत की आशा से वे भारी रकमें चुकाने को तैयार थे। मावलंकर चाहते तो वैसा कर भी सकते थे, किंतु उन्होंने पैसे का रत्तीभर भी लोभ न कर सचाई और मनुष्यता का ही बड़प्पन रखा।

सभी दावेदारों को बुलाकर उन्होंने पूछा—"देखो भाई, आज तो आप लोगों ने सब कुछ देख-समझ लिया। आप लोग घर जाओ। कल जिनके मुकदमे सही हों वही मेरे पास आ जाना।"

दूसरे दिन कुल एक व्यक्ति ही पहुँचा। मावलंकर जी ने उस एक मुकदमे को लिया और ध्यान देकर उसकी ही पैरवी की। वह व्यक्ति विजयी भी हुआ। शेष ने बहुत दबाव डलवाया पर उन्होंने वह मुकदमे छुए तक नहीं।

आप जानते होंगे कि गांधी जी भी प्रारंभ में बैरिस्टर थे। उनका जीवन-मंत्र था—"सचाई का समर्थन और उसके लिए लड़ना।" झूठ और छल से जिस तरह औरों को घृणा होती है, उन्हें भी घृणा थी, पर ऐसी नहीं कि स्वार्थ का समय आए तो उनकी निष्ठा डिग जाए। मान-अपमान का ध्यान किए बिना निरंतर सखा और मित्र बना रहे।

जब गांधी जी अफ्रीका में थे, तब उन्हें एक मुकदमा मिला। लाखों की संपत्ति का मुकदमा था। मुकदमा चलाने वाला पक्ष जीत गया। गांधी जी को काफी बड़ी रकम फीस में मिली।

इस बीच गांधी जी को पता चल गया कि मुकदमा झूठा था। तब वे एक बड़े वकील के साथ मुकदमा करते थे। उन्होंने जाकर कहा—"यह मुकदमा गलत हो गया है। सच्चे पक्ष को हम लोगों ने बुद्धि-चातुर्य से हराया, यह मुझे अच्छा नहीं लगता, न यह मानवता के सिद्धांत के अनुरूप ही है। जिसकी संपत्ति है उसी को मिले, दूसरा अनधिकार चेष्टा क्यों करे?"

वकील बहुत गुस्सा हुआ और बोला—"यह वकालत है महाशय, इसमें सचाई नहीं चलती। सचाई ढूँढ़ोगे तो भूखों मरोगे।"

गांधी जी न अपनी बात से डिगे, न भूखों मरने की नौबत आई। उनकी निष्ठा ने उन्हें ऊपर ही उठाया। सारी दुनिया का नेता बना दिया। उन्होंने वह मुकदमा फिर अदालत में पेश कर दिया। सारी बातें जज को समझाईं। जज ने मामला पलट दिया और अंत में सत्य पक्ष की ही जीत हुई। आर्थिक लाभ भले ही न हुआ हो पर उससे उनकी प्रतिष्ठा को आँच न आई।

❑

दुर्जनों से मान जाऊँ हार, यह संभव नहीं है

वाराणसी हिंदू विश्वविद्यालय के निर्माण का जो स्वरूप महामना मालवीय ने स्थिर किया था, उनके लिए बहुत धन की आवश्यकता थी। "भीख माँगना अच्छा नहीं, पर यदि नेक कार्य के लिए भीख भी माँगनी पड़े तो मैं वह भी करूँगा"—यह कहकर मालवीय जी ने विश्वविद्यालय के लिए दान माँगने का अभियान चलाया।

सत्संकल्प कभी अधूरे नहीं रहते। यदि ईमानदारी और निष्काम भावना से केवल लोक-कल्याणार्थ कोई काम संपन्न करना हो तो भावनाशील योगदानियों की कमी नहीं रहती। क्या धनी, क्या निर्धन विश्वविद्यालय के लिए दान देने की होड़ लग गई। सबने सोचा,

यह विद्यालय राष्ट्र की धार्मिक और सांस्कृतिक विरासत की रक्षा के लिए खुल रहा है। इसमें पढ़ने वाले छात्र चिरकाल तक प्रकाश पाएँगे। भारतीय संस्कृति के आदर्शों की रक्षा होगी इसलिए जो कुछ भी बन पड़े देना चाहिए। उस समय दान के एक नए पैसे का भी वही मूल्य और महत्त्व हो गया, जो हजार-दस हजार का होता है।

इकट्ठी और बड़ी रकम न मिले न सही, बहुत बड़ी शक्ति, प्रतिभा और योग्यता का एक व्यक्ति न मिले—न सही, कम योग्यता के कम साधनों के काफी व्यक्ति इकट्ठे हो जाएँ तो भी वह प्रयोजन आसानी से पूरे हो जाते हैं। इसलिए ५ रुपए का सहयोग भी उतना ही महत्त्व रखता है, जितना १० हजार का दान। दान में केवल व्यक्ति की भावना और लेने वाले का उद्देश्य पवित्र बना रहना चाहिए।

बिहार प्रांत का दौरा करते हुए मालवीय जी मुजफ्फरपुर पहुँचे। वहाँ एक भिखारिन ने दिनभर भीख माँगने के बाद जो पाँच पैसे मिले थे, सब मालवीय जी की झोली में डाल दिए। पास ही एक और निर्धन व्यक्ति था, उसने अपनी फटी कमीज दे दी, उस कमीज को १०० रु० में नीलाम किया गया। किसी ने १०० कुरसियों की जिम्मेदारी ली, किसी ने एक कमरा बनवाने का संकल्प लिया, किसी ने पंखों के लिए रुपए दिए, किसी ने और कोई दान।

एक बंगाली सज्जन ने पाँच हजार रुपया नकद दान दिया, तो उनकी धर्मपत्नी ने बहुमूल्य कंगन दान दे दिया। पति ने दुगना दान देकर खरीद लिया। पर भावना ही तो थी, पत्नी ने उसे फिर दान दे दिया। यह क्रम इतनी देर चला कि रात हो गई। बिजली का प्रबंध था नहीं इसलिए लैंप की रोशनी में ही आई हुई धनराशि की गिनती की जाने लगी।

धन संग्रह एवं नीलामी का काम एक ओर चल रहा था, टिमटिमाते प्रकाश में दूसरी ओर कोठरी में रुपए गिने जा रहे थे,

तभी कोई बदमाश व्यक्ति उधर पहुँचा और बत्ती बुझाकर रुपयों से भरी तीनों थैलियाँ छीनकर ले भागा। कुछ लोगों ने पीछा भी किया पर अँधेरे में वह कहाँ गायब हो गया, पता न चल पाया।

सब लोग इस घटना को लेकर दुखी बैठे थे। एक सज्जन ने मालवीय जी से कहा—"पंडित जी, इस पवित्र कार्य में भी जब लोग धूर्तता करने से बाज नहीं आते तो आप ही क्यों व्यर्थ परेशानियों का बोझ सर पर लेते हैं। जो कुछ मिला है किसी विद्यालय को देकर शांत हो जाइए, कोई बड़ा काम किया जाए, यह देश इस योग्य नहीं।"

मालवीय जी गंभीर मुद्रा में बैठे थे, थोड़ा मुस्कराए और कहने लगे—"भाई बदमाश एक ही तो था। मैं तो देखता हूँ कि भले आदमियों की संख्या सैकड़ों में तो यहीं खड़ी है। सौ भलों के बीच एक बुरे से घबराना क्या? दुर्जनों से मान जाऊँ हार, यह मेरे लिए संभव नहीं। इस तरह यदि सत्प्रवृत्तियाँ रुक जाया करें तो संसार नरक बन जाएगा। हम वह स्थिति नहीं लाने देना चाहते इसलिए अपने प्रयत्न बराबर जारी रखेंगे।"

मालवीय जी की तरह दुष्प्रवृत्तियों से न डरने वाले लोग ही हिंदू विश्वविद्यालय जैसे बड़े काम संपन्न कर पाते हैं।

❑

विनयात् याति पात्रताम्

विनयशीलता, नम्रता, सौम्यता व्यक्तित्व को उच्च स्थिति प्रदान करते हैं। लोगों के अंत:करण जीतने का सबसे सरल मंत्र है कि हमारा जीवन, हमारा व्यवहार अत्यंत विनम्र हो।

यह धारणा डॉ० राजेंद्र प्रसाद की थी। जो अपनी विनम्रता के बल पर ही कम शिक्षा, अत्यंत सादगी, बहुत सरल विचारों के होते हुए भी, इस देश के सर्वप्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित हुए और जब तक रहे उसी आदर भावना से उच्च पद पर प्रतिष्ठित रखे गए।

सामान्य लोगों में बड़े और जिनसे स्वार्थ सधता हो उन्हीं तक विनम्र होने का संकीर्ण स्वभाव रहता है। ऑफिस में अफसर के सामने बहुत उदार हो जाते हैं, पर घर में पत्नी, बच्चे, नौकर के सामने ऐसे अकड़ जाते हैं, जैसे वह कोई सेनापति हों और वैसा करना आवश्यक हो। जिसने विनम्रता-सौम्यता त्यागी, उसने अपना जीवन जटिल बनाया, प्रेम, स्नेह, आत्मीयता और सद्भाव का आनंद गँवाया। यदि इस जीवन को सफल, सार्थक और आनंदयुक्त रखना है तो स्वभाव उदार होना चाहिए। यह मनुष्यता की दृष्टि से भी आवश्यक है कि दूसरों से व्यवहार करते समय शब्द और भाव-भंगिमाओं से कटुता प्रदर्शित न की जाए।

राजेंद्र बाबू के राष्ट्रपति जीवन की एक घटना है। उनकी हजामत के लिए जो नाई आया करता था, उसके हाथ-मुँह साफ नहीं रहते थे। गंदगी किसी को भी अच्छी नहीं लगती, तो फिर वही क्यों पसंद करते? उन्होंने नाई से कहा—"आप हाथ-मुँह साफ करके आया करें। यह कहते हुए उन्होंने शब्दों में पूर्ण सतर्कता रखी। जोर न देकर शिष्ट भाव अधिक था, तो भी उन सज्जन पर इन शब्दों का कोई प्रभाव न पड़ा। वे अपने पूर्व क्रमानुसार ही आते रहे।"

राजेंद्र बाबू राष्ट्रपति थे। अपने अधिकारियों से वे कठोर शब्दों में कहला सकते थे, यह भी संभव था कि नाई बदलवाकर किसी स्वच्छ, साफ-सुथरे नाई की व्यवस्था कर लेते, पर मानवीयता की दृष्टि से उन्होंने इनमें से किसी की आवश्यकता नहीं समझी। एक व्यक्ति को सुधार लेना अच्छा, उसे बलात मानसिक कष्ट देना या बहिष्कार करना अच्छा नहीं होता। मृदुता और नम्र व्यवहार से पराये अपने हो जाते हैं तो फिर अपनों को अपना क्यों नहीं बनाया जा सकता?

पर अब उन्हें इस बात का संकोच था कि दोबारा कहने से उस व्यक्ति को कहीं मानसिक कष्ट न हो। कई दिन उनका मस्तिष्क इन्हीं

विचारों में घूमता रहा। यह भी उनका बड़प्पन ही था कि साधारण सी बात को भी उन्होंने विनम्रतापूर्वक सुलझाना ही ठीक समझा।

दूसरे दिन नाई के आने पर बड़ी विनम्रता से बोले—"आपको बहुत परिश्रम करना पड़ता होगा, उससे शायद वहाँ समय न मिलता होगा, इसलिए यहाँ आकर हाथ-मुँह धो लिया करें।"

नाई को अपनी भूल पर बड़ा दुःख हुआ, साथ ही वह राजेंद्र बाबू की सहृदयता से बहुत प्रभावित हुआ। उसने अनुभव किया कि छोटी-छोटी बातों की उपेक्षा करने से ही डाँट-फटकार सुननी पड़ती है, पर विनम्रता से तो उसे भी ठीक किया जा सकता है। उसने उस दिन से हाथ-मुँह धोकर आने का नियम बना लिया। फिर कोई शिकायत नहीं हुई और न कोई कटुता ही पैदा हुई।

❑

सफाई तो स्वाभाविक धर्म

सफाई को वे गांधी जी की तरह अत्यावश्यक धर्म मानते थे और उनकी भी यह धारणा व्यावहारिक थी कि सफाई जैसी आवश्यक वस्तु के लिए न तो दूसरों पर निर्भर रहना चाहिए और न ही उसे छोटा और घृणित कार्य मानना चाहिए। सफाई ऐसी व्यवस्था है, जिससे स्वास्थ्य और मानसिक प्रसन्नता चरितार्थ होती है, उससे दैनिक जीवन पर बड़ा सुंदर प्रभाव पड़ता है। इसलिए छोटा हो या बड़ा, सफाई का कार्य सबके लिए एक जैसा है।

ऑफिसों के लोग, साधारण पदवी वाले कर्मचारी और घरों में भी जो लोग थोड़ा-बहुत पढ़-लिख जाते हैं, वे अपने आप को साफ-सुथरा रख सकते हैं। पर अपने आवास और पास-पड़ोस को साफ रखने से शान घटने की ओछी धारणा लोगों में पाई जाती है, किंतु उनको यह बात बिलकुल भी छू तक न गई थी।

बात बहुत पहले की नहीं, तब की है जब वे प्रधानमंत्री थे। पार्लियामेंट से दोपहर का भोजन करने वे अपने घर जाया करते थे। एक दिन की बात है, घर के बच्चों ने तमाम कागज के टुकड़े फाड़-फाड़कर चारों तरफ फैला दिए थे। खेल-खेल में और भी तमाम गंदगी इकट्ठी हो गई थी। घर के लोग दूसरे कामों में व्यस्त रहे। किसी का ध्यान इस तरफ नहीं गया कि घर साफ नहीं है और उनका भोजन करने का वक्त हो गया है।

प्रधानमंत्री नियमानुसार दोपहर के भोजन के लिए घर पहुँचे। घर में पाँव रखते ही उनकी निगाह सर्वप्रथम घर की अस्तव्यस्तता और गंदगी पर गई। दूसरा कोई होता तो नौकर को बुलाता घर वालों को डाँटता। पर उनका कहना था, ऐसा करना मनुष्य का छोटापन व्यक्त करता है, सामने आया हुआ छोटा काम भी यदि भावनापूर्वक किया जाता है तो उस छोटे से काम का भी मूल्य बढ़ जाता है और सच पूछो तो छोटे-छोटे कामों को भी लगन और भावनापूर्वक करने की इन्हीं सुंदर आदतों और सिद्धांतों ने उन्हें एक साधारण किसान के बेटे से विशाल गणराज्य का प्रधानमंत्री प्रतिष्ठित किया था।

उन्होंने न किसी को बुलाया, न डाँट-फटकार लगाई, चुपचाप झाड़ू उठाया और कमरे की सफाई शुरू कर दी, तब दूसरे लोगों का भी ध्यान उधर गया। पहरे के सिपाही, घर का नौकर उनकी धर्मपत्नी सब जहाँ थे, वही निर्वाक खड़े देखते रहे और वे चुपचाप झाड़ू लगाते रहे। किसी को बीच में टोकने का साहस न पड़ा, क्योंकि उनकी कड़ी चेतावनी थी काम करने के बीच में कोई भी हो छेड़ना अच्छा नहीं होता।

सफाई हो गई तो वे लोग मुस्कराते हुए रसोई पहुँचे। ऐसा जान पड़ता था कि इनके मन में झाड़ू लगाने से कोई कष्ट नहीं पहुँचा वरन मानसिक प्रसन्नता बढ़ गई है।

धर्मपत्नी ने विनीत भाव से हाथ धोने के लिए पानी देते हुए कहा—हम लोगों की लापरवाही से आपको इतना कष्ट उठाना पड़ा, तो वे हँसकर बोले—हाँ, लापरवाही तो हुई, पर मुझे सफाई से कोई कष्ट नहीं हुआ। यह तो हर मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है कि वह अपनी और अपने पड़ोस की बेझिझक सफाई रखा करे।

सब कुछ जहाँ का तहाँ व्यवस्थित हुआ, वे भोजन समाप्त कर फिर अपने नियत समय पर पार्लियामेंट लौट आए। आप जानना चाहेंगे, अपने ऐसे आदर्शों के बल पर साधारण व्यक्ति से प्रधानमंत्री बनने वाले कौन थे? वह और कोई नहीं, लालबहादुर शास्त्री थे। उन्होंने साबित कर दिया कि मनुष्य जन्मजात न तो बड़ा होता है, और न प्रतिष्ठा का पात्र। उसको बड़ा उसका काम, उसकी सचाई और ईमानदारी बनाती है। उनका संपूर्ण जीवन ही ऐसे उद्धरणों से परिपूर्ण है।

❑

अभेद आदर—निर्विकार न्याय

इस युग में भी जबकि बुद्धि-विकास तेजी से हो रहा है, लोगों में ऊँच-नीच, छूत-अछूत, छोटे-बड़े का भाव देखकर हर विचारशील व्यक्ति को कष्ट होता है। उस परिस्थिति में तो और भी जबकि सामाजिक न्याय के लिए भी पक्षपात होता है। साधारण कर्मचारी से लेकर बड़े-बड़े पदाधिकारी और न्यायधीशों में भी इस तरह की प्रवंचना देखने में आती है तो उन महापुरुषों की यादें उभर आती हैं, जिन्होंने कर्त्तव्यपरायणता से अपने पद को सम्मानित किया, आज की तरह उस पर कलंक का टीका नहीं लगाया।

बंबई हाईकोर्ट के जज गोविंद रानाडे को कौन नहीं जानता? पर इसके लिए नहीं कि वे अंगरेजी युग के सम्माननीय जज थे, वरन इसलिए कि उन्होंने पद की अपेक्षा कर्त्तव्यपालन को उच्च माना और उसकी पूर्ति में कभी हिचक न होने दी।

एक बार की बात है— रानाडे साहब अपने कमरे में पुस्तक पढ़ रहे थे, उस समय कोई अत्यंत दीन और वेशभूषा से दरिद्र व्यक्ति उनसे मिलने गया। अफसरों के लिए इतना ही काफी होता है, अपने पास से किसी को भगा देने के लिए। कोई अपना मित्र, संबंधी, प्रियजन हो तो सरकारी काम की भी अवहेलना कर सकते हैं, पर न्याय के लिए हर-आम की बात गौर से सुन लेना, अब शान के खिलाफ माना जाता है।

रानाडे इस दृष्टि से निर्विकार थे। उन्होंने अपने चपरासी से कहा—"उस व्यक्ति को आदरपूर्वक भीतर ले आओ।" कोई छोटी जाति का आदमी था। नमस्कार कर एक ओर खड़ा हो गया। कहने लगा—"हुजूर! मेरी एक प्रार्थना है।"

"सो तो मैं सुनूँगा।" जज साहब ने सौम्य शब्दों में कहा— "पहले आप कुरसी पर बैठिए।"

"हूजूर, मैं छोटी जाति का आदमी हूँ, आपके सामने कैसे बैठ जाऊँ, यों ही खड़े-खड़े अर्ज कर देता हूँ।"

रानाडे जानते थे, इनके साथ हर जगह उपेक्षापूर्ण बरताव होता है, इसीलए वह यहाँ भी डर रहा है। उनके लिए यह बड़ा दुःख था कि मनुष्य, मनुष्य में भेद जताकर उसका अनादर करता है। परिस्थितियों में किसी को हीन स्थिति मिली तो इसका यह अर्थ नहीं होता है कि उन्हें दुतकारा जाए और सामाजिक न्याय से वंचित रखा जाए। भेद किया जाए तो हर व्यक्ति दूसरे से छोटा है। जब चाहे, जो चाहे, जिसका अनादर कर सकता है। ऐसा होने लगे तो संसार में प्रेम-आत्मीयता और आदर का लेशमात्र स्थान न बचे।

जज साहब ने उसे पहले आग्रहपूर्वक कुरसी पर बैठाया और फिर बपनी बात कहने के लिए साहस बंधाया।

बंबई नगरपालिका के विरुद्ध अभियोग था। साधारण व्यक्ति होने के कारण सुनवाई न हुई थी, वरन उसे जहाँ गया डाँट-फटकार ही मिली थी। आजकल वैसा नहीं होता तो बहानेबाजी, रिश्वतखोरी

की बातें चलती हैं, दोनों एकसी हैं। फिर जितना ऊपर बढ़ो सुनवाई की संभावना भी उतनी ही मंद पड़ती जाती है।

जज साहब ने बात ध्यान से सुनी और कहा—"मैं सब कुछ आज ही ठीक कर दूँगा। आश्वासन पाकर उस दीन जन की आँखें भर आईं। जज साहब ने उसी दिन उस बेचारे का वर्षों का रुका काम निबटाया। यह भी हिदायत दी कि किसी को निम्न वर्ग वाला, अशिक्षित या अछूत मानकर उपेक्षित और न्याय से वंचित न किया जाए।"

जज साहब की यह आदर्शवादिता यदि आज के पदाधिकारियों में होती तो भारतीय लोकतंत्र उजागर हो जाता।

❑

सच्ची लगन सफलता का मूल

दक्षिण भारत के एक छोटे से गाँव की एक कुटिया में बैठा हुआ वह व्यक्ति निरंतर लेखन-कार्य में निमग्न था, उसे न खाने की सुध थी, न पानी की। आस-पास, पास-पड़ोस में क्या हो रहा है? उसे यह भी पता नही, कुटिया में कौन आता-जाता है? भोजन कौन दे जाता? जूठे पात्रों को कौन उठा ले जाता? बिस्तर कौन सँभाल जाता? इसका कुछ भी ध्यान नहीं। लेखन के आवश्यक उपकरण कागज, दवात, स्याही आदि कहाँ से आते हैं? कब आते हैं? कौन लाता है इसका कुछ भी भान नहीं? नित्यक्रिया शौच, लघु-शंका आदि के उपरांत स्नान, ध्यान, भोजन आदि स्वभाववश हो जाते थे। पुनः अपनी लेखनी उठाई और अपनी साधना में निमग्न। पं० वाचस्पति जी मिश्र अपने सुप्रसिद्ध वेदांत ग्रंथ, 'भामती' के प्रणयन में इस प्रकार निरत थे।

तन्मयता और सच्ची लगन वह गुण हैं, जो व्यक्ति को उसके निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँचाते हैं। सफलता के अन्य सूत्र भी हैं, उनकी भी आवश्यकता पड़ती है, परंतु जैसे दीपक जलने के लिए

तेल सबसे आवश्यक उपकरण है, वैसे ही सफलता के लिए सच्ची और प्रगाढ़ लगन। मनुष्य में यदि इसका अभाव रहा तो सारे उपकरण रहते हुए भी कुछ नहीं कर सकेंगे। शरीर एक ढर्रे पर चलता रहेगा। देखने में लगेगा कुछ हो रहा है। ऐसी मन:स्थिति में किए गए लँगड़े-लूले काम भला कहीं सफल भी होते हैं।

पं० वाचस्पति जी मिश्र में ऐसी ही तन्मयता और निष्ठा थी। एक रात को बैठे वे लिख रहे थे अपने ग्रंथ को। दीपक का तेल समाप्त सा हो गया था। लौ भी फीकी पड़ रही थी। इतने में दो हाथ उधर से बढ़े। आशय था कि दीपक तेज किया जाए। इसी प्रयत्न में दीपक बुझ गया। उन हाथों ने फिर बत्ती जलाई। संयोग था कि उस समय पंडित जी का ग्रंथ पूरा हो चला था। अन्यथा अनेक वर्षों तक वे ऐसी बाधाओं को जान भी न सके थे। लिखना और लेखनी बंद करके सोचना—बस चिंतन की यह तन्मयता ही उनका जीवन था। दीपक भी कुछ होता है, यह लिखते समय उनके ध्यान में कभी नहीं आया।

ग्रंथ पूरा हो गया था। सरस्वती के पुत्र का ध्यान भंग हुआ, दीपक जलाकर जाती हुई पत्नी को उन्होंने देखा और पूछा—देवि! तुम कौन हो? यहाँ किसलिए आई थीं? आप।

मैं आपकी चरण सेविका हूँ। पिछले चालीस-पचास वर्षों से आपकी ही सेवा कर रही हूँ, उस नारी ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया—"आज दीपक बुझ जाने से कार्य में विघ्न पड़ा, इसके लिए क्षमा करें। भविष्य में ऐसा कष्ट न आने दूँगी। "

मेरी सेविका? पंडित जी इसका रहस्य न समझ सके। पवित्रता की प्रतिमूर्ति अपने पतिदेव के आश्चर्य का आशय समझ गई। वह आगे स्पष्टीकरण करते हुए पुन: बोल उठीं, "पिता अपनी पुत्री का हाथ जिस पुरुष के हाथ में दे देता है, वह उसकी सेविका ही होती है। आप तो विवाह मंडप में भी हाथों में कुछ पन्ने लिए हुए उनके ही चिंतन में लीन थे। इस

कुटिया में भी जब से आई, आपको अपने लेखन से अवकाश कहाँ?''

''तो फिर तुम मुझसे क्या चाहती हो?''

कभी चाहती थी कि संसार में नाम रखने का कुछ आधार होता, किंतु अब तो शरीर भी जर्जर हो चुका। अत: आपकी सेवा-सुश्रूषा में ही मुझे परम सुख है।

तुम्हारा नाम? पंडित जी ने पूछा—''भामती, नन्हा सा उत्तर था। पंडित जी ने अपनी लेखनी उठाई और उस ग्रंथ के ऊपर लिख दिया—''भामती, बोले, लो संसार में जब तक भारतीय संस्कृति और उसकी गरिमा जीवित रहेगी, तुम्हारा नाम अमर रहेगा। सचमुच पंडित वाचस्पति की सच्ची निष्ठा, 'भामती' आज भी कायम है।

❑

काशीफल का दान

कटक (उड़ीसा) के समीप एक गाँव में एक सभा का आयोजन किया गया, उसमें हजारों संभ्रांत नागरिक और आदिवासी एकत्रित थे। गाधी जी को हिंदी में भाषण का अभ्यास था, किंतु इस आशंका से कि कहीं ऐसा न हो यह लोग हिंदी न समझ पाएँ उड़िया अनुवाद का प्रबंध कर लिया गया था।

भाषण कुछ देर ही चला था कि भीड़ ने आग्रह किया—''गांधी जी आप हिंदी में ही भाषण करें। सीधी-सच्ची बातें जो हृदय तक पहुँचती हैं, उनके लिए बनावट और शब्द-विन्यास की क्या आवश्यकता? आपकी सरल भाषा में जो माधुर्य छलकता है, उसी से काम चल जाता है, दोहरा समय लगाने की आवश्यकता नहीं।''

गांधी जी की सत्योन्मुख आत्मा प्रफुल्ल हो उठी। उन्होंने अनुभव किया कि सत्य और निश्छल अंत:करण का मार्गदर्शन भाषा-प्रांत के भेदभाव से कितने परे होता है? आत्मा बुद्धि से

नहीं, हृदय से पहचानी जाती है। समाजसेवक जितना सहृदय और सच्चा होता है, लोग उसे उतना ही चाहते हैं फिर चाहे उसकी योग्यता नगण्य सी क्यों न हो! यह मानकर वे भाषण हिंदी में करने लगे।

लोगों को भ्रम था कि गांधी जी की वाणी उतना प्रभावित नहीं कर सकेगी, पर उनकी भाव-विह्वलता के साथ सब भाव-विह्वल होते गए। सामाजिक विषमता, राष्ट्रोद्धार और दलित वर्ग के उत्थान के लिए उनका एक-एक आग्रह श्रोताओं के हृदय में बैठता चला गया।

भाषण समाप्त हुआ तो गांधी जी ने कहा—"आप लोगों से हरिजन फंड के लिए कुछ धन मिलना चाहिए। हमारी सीधी-सादी सामाजिक आवश्यकताएँ आप सबके पुण्य सहयोग से पूरी होनी हैं।" गांधी जी के ऐसा कहते ही रुपए-पैसों की बोछावर होने लगी, जिसके पास जो कुछ था, देता चला गया।

एक आदिवासी लड़का भी उस सभा में उपस्थित था। अबोध बालक, पर आवश्यकता को समझने वाला बालक। जेब में हाथ डाला तो हाथ सीधा पार गया। एक भी पैसा तो उसके पास न था, जो बापू की झोली में डाल देता, किंतु भावनाओं का आवेग भी तो उसके सँभाले नहीं सँभल सका। जब सभी लोग लोकमंगल के लिए अपने श्रद्धा-सुमन भेंट किए जा रहे हों, वह बालक भी चुप कैसे रह सकता था?

भीड़ को पार कर घर की ओर भागता हुआ गया और एक कपड़े में छिपाए कोई वस्तु लेकर फिर दौड़कर लौट आया। गांधी जी के समीप पहुँचकर उसने वह वस्तु गांधी जी के हाथ में सौंप दी। गांधी ने कपड़ा हटाकर देखा—बड़ा सा गोल-मटोल 'काशीफल' था।

गांधी जी ने उसे स्वीकार कर लिया। उस बच्चे की पीठ पर हाथ फेरते हुए पूछा—कहाँ से लाए यह काशीफल?

"मेरे छप्पर में लगा था बापू!" लड़के ने सरल भाव से कहा—हमने अपने दरवाजे पर इसकी बेल लगाई है, उसका ही फल है और तो मेरे पास कुछ नहीं है, ऐसा कहते हुए उसने दोनों जेबें खाली करके दिखा दीं।

आँखें छलक आईं भावनाओं के साधक की। उसने पूछा—बेटे, आज फिर सब्जी किसकी खाओगे?

"आज नमक से खा लेंगे बापू! लोक मंगल की आकांक्षा खाली हाथ न लौट जाए, इसलिए उसे स्वीकार कर लो।" बच्चे ने साग्रह विनय की।

गांधी जी ने काशीफल भंडार में रखते हुए कहा—"मेरे बच्चो! जब तक तुम्हारे भीतर त्याग और लोक-सेवा का भाव अक्षुण्ण है, तब तक अपने धर्म और अपनी संस्कृति को कोई दबाकर नहीं रख सकेगा।"

❑

प्रथम आहुति—पूर्णाहुति

डचों का आक्रमण अप्रत्याशित था। इंडोनेशियाई सैनिक उसके लिए बिलकुल भी तैयार नहीं थे। अब दो ही विकल्प सामने थे—एक तो डचों के आगे आत्मसमर्पण कर दिया जाए अन्यथा जो भी शक्ति है, उसे ही लेकर संकट का संपूर्ण साहस के साथ सामना किया जाए।

कोई भी स्वाभिमानी जाति अपने सम्मान, संस्कृति और स्वाधीनता की रक्षा के लिए जो निर्णय ले सकती है, वही निर्णय इंडोनेशियाई सैनिकों ने लिया अर्थात उन्होंने जीवन की अंतिम साँस तक लड़ने और डचों का सामना करने का संकल्प ठान लिया।

कमांडरों की बैठक हुई और योजना बनाई गई कि सेना को कई छोटी-छोटी टुकड़ियों में बाँटकर छापा मार युद्ध किया जाए।

सीमित शक्ति से असीमित का मुकाबला साहस और शौर्य का ही परिचायक होता है।

इधर जिन सैनिकों को, जिस टोली में जाने का आदेश मिलता, वह आनन-फानन में तैयार होकर चल पड़ता, ऐसा शौर्य इंडोनेशियायियों में इससे पहले कभी देखने को नहीं मिला था।

जब यह सब हो रहा था, सेना का एक जवान जिसका नाम था सुवर्ण मार्तंडनाथ। मिलिटरी हेड क्वार्टर में लगाई गई, पहली टोली में जाने वालों के नामों की सूची बड़े ध्यान से पढ़ रहा था। सब नाम पढ़ लिए और जब उसे अपना नाम नहीं मिला तो उसकी आँखें भर आईं, पहली टोली में नाम न पाने का बड़ा दुर्भाग्य मनाया उसने। "फील्ड सर्विस मार्चिंग आर्डर" (युद्ध की पूर्ण सज्जित वेषभूषा) में उसके बड़े भाई ने पीछे से उसके कंधे पर हाथ रखा और पूछा—क्यों सुवर्ण अपना नाम न पाकर तुम दुःख कर रहे हो, इसमें दुःख की क्या बात? बलिदान सबको होना है, क्या आगे—क्या पीछे?

मार्तंडनाथ की भरी आँखें बरस पड़ीं, हृदय का गुबार कपोलों से बह निकला—उसने अपने भाई के पाँव पकड़ लिए और रुँधे गले से कहा—भैया! आप यह सौभाग्य मुझे नहीं दे सकते, क्या? मेरा हठ आपको स्वीकार करना ही होगा, छोटा हूँ तो क्या, उत्सर्ग का प्रथम अधिकार मुझे मिलना चाहिए।

बड़े भाई ने बड़े स्नेह से सुवर्ण के आँसू पोंछते हुए कहा— "तात! मोमबत्ती के सभी कण पहले जलने के लिए उलझ पड़े तो फिर मोमबत्ती के लिए देर तक प्रकाश दे सकना कहाँ संभव रह जाए? वह उलझकर बुझ न जाएगी। जिद न करो, आज नहीं तो कल तुम्हारी बारी आनी ही है।"

उत्सर्ग का सुख जानने वाले सुवर्ण मार्तंडनाथ के लिए और सारे शब्द शूल से लग रहे थे, वह तो पहली टोली से स्वयं जाने

की आशा मात्र का अभिलाषी था। आखिर कमांडरों को उसकी जिद के आगे झुकना पड़ा। उसका नाम पहली टोली में चढ़ा दिया गया।

बड़े भाई का नाम अंतिम टुकड़ी में आया। कई दिन के घनघोर युद्ध के बाद विजय इंडोनेशिया की रही। स्वाधीनता के लिए शहीद होने वालों की सूची निकाली गई। युवक सुवर्ण मार्तंडनाथ ने उसे लेकर जैसे ही दृष्टि डाली कि उसमें पहला ही नाम उसके बड़े भाई का मिला। "पूर्णाहुति का सौभाग्य आखिर आपको ही मिला"—इतना कहते-कहते एकबार सुवर्ण मार्तंडनाथ की आँखें भर आईं, उससे पूरी लिस्ट पढ़ी नहीं गई।

❑

प्रधानमंत्री की सादगी

यूनान के एक राजदूत ने भारत के प्रधानमंत्री चाणक्य की विद्वत्ता, कूटनीतिज्ञता तथा सादगी की बात सुनी तो उनसे भेंट करने चल पड़ा। चाणक्य की कुटिया गंगा किनारे थी। वह राजदूत तलाश करता हुआ गंगा तट पर पहुँचा, उसने देखा कि एक बलिष्ठ व्यक्ति गंगा में नहा रहा है। थोड़ी ही देर में वह निकला, उसने पानी का एक घड़ा अपने कंधे पर रखा और चल दिया।

राजदूत ने पूछा—"क्यों भाई! मुझे चाणक्य के निवास स्थान का पता बताओगे।" उसने घास-फूस से निर्मित कुटी की ओर हाथ का संकेत कर दिया। राजदूत को बड़ा आश्चर्य हुआ कि मैंने तो प्रधानमंत्री का निवास पूछा और इसने तो कुटिया की ओर इशारा कर दिया। क्या इतने बड़े देश का प्रधानमंत्री इस कुटिया में रहता है। ऐसे विचार उसके मन में आते रहे।

पहले उस राजदूत ने गंगा स्नान करना उचित समझा, फिर वह उसी कुटी पर पहुँचा। कुटी के बाहर से उसने देखा कि थोड़े से

बरतन रखे हैं। एक किनारे पर जल का वही घड़ा, जो गंगा में से अभी भरकर आया था। एक खाट और मोटे-मोट ग्रंथों का छोटा संग्रह।

"प्रधानमंत्री चाणक्य से भेंट करना चाहता हूँ।" राजदूत ने कहा।

"स्वागत है, अतिथि आपका, मुझे ही चाणक्य कहते हैं।"

राजदूत के नेत्र आश्चर्य से खुले ही रह गए। इस व्यक्ति से तो अभी भेंट हो ही चुकी थी। लंबी सी चोटी साधारण सी धोती पहने सीधा मेरुदंड किए पुस्तक के पृष्ठ पलटने वाला यह किसी देश का प्रधान मंत्री हो सकता है? आश्चर्य! स्वावलंबन का यह अनोखा जीवन कि पानी तक स्वयं भरकर लाता है। यहाँ तो कोई नौकर-चाकर भी दिखाई नहीं देते। फर्नीचर, अल्मारियाँ तथा उपयोग एवं दिखावे की अन्य वस्तुओं का एकदम अभाव।

वह कुटिया में एक आसन पर बैठकर चाणक्य से चर्चा करता रहा। जब वह अपने देश को लौटा तो उसने वहाँ के लोगों को बताया कि भारत एक महान देश है और उसे महान बनाने का श्रेय वहाँ के महापुरुषों को है, जो त्याग और संयम का जीवन व्यतीत करते हैं। जो सादा जीवन को ही अपना गौरव मानते हैं। वहाँ के प्रधानमंत्री तक निर्धन व्यक्ति जैसा जीवन व्यतीत करते हैं। जिस देश का प्रधानमंत्री अपने देशवासियों की इतनी चिंता करता है और धन के सदुपयोग पर ध्यान रखता है, फिर उसे कौन विदेशी परास्त करने की हिम्मत कर सकता है?

❑

एकाग्रचित्त काम—बहुत बड़े परिणाम

इंग्लैंड के इतिहास में 'एल्फ्रेड' का नाम बड़े सम्मान से लिया जाता है। एल्फ्रेड ने प्रजा की भलाई के लिए अनेक साहसिक कार्य

किए, जिससे वह महान एल्फ्रेड (एल्फ्रेड द ग्रेट) के नाम से पुकारा जाता है।

प्रारंभ में एल्फ्रेड भी एक साधारण राजा की तरह, जो बाप-दादों से होता आया है, वह चाहे अच्छा हो या बुरा करने की अंधविश्वासी प्रवृत्ति के कारण वह सामान्य व्यक्तियों का सा खाओ-पियो और वैभव-विलास में डूबे रहो—का जीवन जीने लगा। समुद्र में पड़ा तिनका जिस तरह लहरों के साथ उठता-गिरता है, वेसे ही अस्त-व्यस्त जीवन एल्फ्रेड का भी था। एक दिन ऐसा भी आया, जब उसकी यह सुस्ती शत्रुओं के लिए लाभदायक सिद्ध हुई। एल्फ्रेड का राज्य औरों ने हड़प लिया और उसे गद्दी से उतारकर भगा दिया ।

इधर-उधर मारे-फिर रहे एल्फ्रेड को एक किसान के घर नौकरी करनी पड़ी। उसे बरतन माँजने, पानी भरने और चौके का काम सौंप गया। उसके काम की देख-रेख किसान की स्त्री करती थी। एल्फ्रेड छिपे वेश में जिंदगी काटने लगा।

एक दिन किसान की स्त्री को किसी आवश्यक काम से बाहर जाना पड़ा। बटलोई पर दाल चढ़ी थी, सो उसने एल्फ्रेड से कहा कि जब तक मैं वापस नहीं आ जाती तुम बटलोई की दाल का ध्यान रखना। यह कहकर स्त्री चली गई।

वहाँ से काम पूरा कर लौटी तो स्त्री ने देखा एल्फ्रेड एक ओर बैठा कुछ सोच रहा है और बटलोई की सारी दाल जल चुकी है। स्त्री ने कहा—"मूर्ख नवयुवक! लगता है तुझ पर एल्फ्रेड की छाया पड़ गई है, जो काम सौंपा जाता है, उसे कभी एकाग्र चित्त होकर पूरा नहीं करता। तू भी उसकी तरह मारा-मारा घूमेगा।"

स्त्री बेचारा को क्या पता था कि जिससे बात कर रही है वह एल्फ्रेड ही है, पर एल्फ्रेड को अपनी भूल का पता चल गया। उसने बात गाँठ बाँध ली—आज से जो भी काम करूँगा, उसे दत्तचित्त होकर करूँगा। कल्पना के किले बनाते रहने में कोई लाभ नहीं।

एल्फ्रेड एक बार फिर सहयोगियों से मिला। धन-संग्रह किया, सेना एकत्रित की और दुश्मन पर चढ़ाई करके लंदन को फिर से जीत लिया। इस बार उसने सारे इंग्लैंड को एक सूत्र में बाँधकर नए उत्साह, सूझ-बूझ और एकाग्रता से काम किया, जिससे देश की उन्नति हुई।

एक दिन एल्फ्रेड फिर उस किसान स्त्री के घर गया और उसे बहुत सा धन देकर कहा—"माँ! तूने उस दिन शिक्षा न दी होती तो मैं इस स्थिति पर नहीं पहुँचता।" छोटों की भी अच्छी बात मानने के एल्फ्रेड के इस गुण की प्रशंसा की जाती है। स्त्री तो आश्चर्य में डूब गई कि मैंने उस दिन इतने महान आदमी को अनजान में यह शब्द कह दिए।

❑

सबका आदर—सच्ची सभ्यता

राष्ट्रपति का घोड़ा शान के साथ आगे-आगे चल रहा था। पीछे कुछ साथी थे और बाद में अंगरक्षक घुड़सवार। यह कोई राजकीय यात्रा न थी। मन बहलाव के लिए निकले थे सब लोग।

सड़क पर बढ़ते हुए राष्ट्रपति को एक हबशी मिला। हबशी ने राष्ट्रध्यक्ष को पहचाना। उसने अपनी टोपी उतारी और झुककर प्रणाम किया। फिर राष्ट्रपति ने भी अपनी टोपी उतारी और सिर झुकाकर अभिवादन का उत्तर अभिवादन से दिया। हबशी का मुख प्रसन्नता से खिल उठा, खुशी-खुशी एक ओर निकलकर अपने घर चला गया।

कुछ नजदीकी मित्र संबंधियों को राष्ट्रपति का इस प्रकार का प्रत्युत्तर में झुककर प्रणाम करना अच्छा न लगा। इतने बड़े राष्ट्र का स्वामी एक मामूली हबशी को विनम्र अभिवादन करे, इसमें कुछ शान का घटियापन लगा। बेचारे बोल कुछ न सकते थे। सब के सब पीछे-पीछे चलते और मनोविनोद करते गए।

शाम को घर लौटे। अतिथियों सहित सब लोग भोजन पर बैठे तो एक मित्र ने दिन वाला प्रसंग छेड़ दिया और कहा—कहाँ उनकी यह सभ्रांत स्थिति, कहाँ वह गुलाम हबशी—आपको उसे मस्तक झुकाकर अभिवादन नहीं करना चाहिए था। वह एक साधारण व्यक्ति था। इसलिए उसे विनम्र होना अनिवार्य था, आपके लिए नहीं।

राष्ट्रपति हँसे और बोले—ठीक कहते हो भाई! राष्ट्रपति तो बहुत बड़ा आदमी होता है, लेकिन क्या उसे बेअदब भी होना चाहिए? राष्ट्रपति तो मैं इसलिए हूँ कि मुझमें शासन सत्ता सँभालने की योग्यता अनुभव की गई है, पर यदि अपना राष्ट्रपति पद और उस व्यक्ति का हबशी कहा जाना दोनों निकाल दें तो फिर हम दोनों एक ही सामान्य श्रेणी के मनुष्य रह जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य का आदर करे। भाइयो, यही तो सच्ची सभ्यता है। पद-प्रतिष्ठा और उच्च सम्मान पाने का यह अर्थ तो नहीं है कि लोग मानवीय कर्त्तव्यों की अवहेलना करने लगें। उसने जिस आत्मीयता और सम्मान के साथ प्रणाम किया था, वैसे में न करता तो यह मानवता का अपमान न होता?

मित्रों को उनकी इस बात के आगे कोई दलील सूझ न पड़ी तो भी अपने पक्ष की पुष्टि के लिए उन्होंने इस बार राष्ट्रपति के परिवार वालों का समर्थन पाने की कोशिश की। उन्होंने कहा—"कुछ हो आप जैसे विद्वान और प्रतिष्ठित व्यक्ति को वैसा नहीं करना चाहिए।"

राष्ट्रपति की धर्मपत्नी भी वहाँ उपस्थित थीं। उन्होंने कहा—जार्ज साहब ने जो कुछ किया वह आदर्श ही नहीं अनुकरणीय भी है। मनुष्य-मनुष्य में परस्पर भेदभाव न रहे, इसके लिए वह आवश्यक है कि ऊँची या नीची परिस्थितियों में रहते हुए भी आत्म-समानता का ध्यान रखा जाए। एक दिन था जब हम लोग निर्धन थे, सामान्य श्रेणी में गिने जाते थे। आज

इस स्थिति में हैं, इसका यह तो अर्थ नहीं कि हम मनुष्य नहीं रह गए। मनुष्य के नाते इन्होंने जो कुछ किया, वही सही था। एक अनपढ़ व्यक्ति ने झुककर प्रणाम किया यह उसकी सभ्यता थी और यदि पढ़े-लिखे होकर भी ये वैसा प्रत्युत्तर न देते तो इससे बड़ी असभ्यता प्रकट होती।'' यह सुनकर सब उनसे सहमत हो गए।

यह राष्ट्रपति अमेरिका के निर्माता जार्ज वाशिंगटन थे।

प्रत्येक मनुष्य अपनी अच्छी-बुरी स्थिति का अच्छा-बुरा परिणाम पाता है, इसको मापदंड मानकर सभ्यता नहीं छोड़ी जा सकती है। ऊँच-नीच का भेदभाव न रखकर हर मनुष्य को सम्मान देना ही सच्ची सभ्यता है।

❑

निर्भीक-सहिष्णुता

निर्भीकता, सहनशीलता और समदर्शिता सच्चे संत के आवश्यक गुण माने गए हैं। जो किसी भय अथवा दबाव में आकर अपने पथ से विचलित हो उठे, अपने व्यक्तिगत अपमान अथवा कष्ट से उत्तेजित अथवा विक्षुब्ध हो उठे अथवा जो किसी लोभ-लालच, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, पद-पदवी के कारण किसी के प्रति अंतर माने उसे सच्चा संत नहीं कहा जा सकता। सच्चा संत भगवान के राज्य में निर्भय विचरता और व्यवहार करता है, सुख-दुःख, मान-अपमान को उसका कौतुक मानता और प्राणिमात्र में समान दृष्टिकोण रखता है। उसको न कहीं भय होता है, न दुःख और न ऊँच-नीच। सिखों के आदि गुरु नानक साहब में यह सभी गुण पूरी मात्रा में मौजूद थे और वे वास्तव में एक सच्चे संत थे।

गुरुनानक गाँव के जमींदार दौलत खाँ के मोदीखाने में नौकर थे। जमींदार बड़ा सख्त और जलाली आदमी था, किंतु गुरुनानक न तो कभी उससे दबे और न डरे। बल्कि एक बार जब उन्होंने तीन

दिन की विचार समाधि के बाद अपना पूर्ण परीक्षण कर यह विश्वास कर लिया कि अब उन्होंने जनसेवा के योग्य पूर्ण संतत्व प्राप्त कर लिया है, तब वे दौलतखाँ को यह बतलाने गए कि अब वे नौकरी नहीं करेंगे, बल्कि शेष जीवन जन सेवा में लगाएँगे।

जमींदार ने उन्हें अपने बैठकखाने में बुलवाया, गुरुनानक गए और बिना सलाम किए उसके बराबर आसन पर बैठ गए। जमींदार की भौंहें तन गईं, बोला—नानक! मेरे मोदी होकर भी तुमने मुझे सलाम नहीं किया और आकर बराबर में बैठ गए। यह गुस्ताखी क्यों की? नानक ने निर्भीकता से उत्तर दिया, दौलतखान! आपका मोदी नानक तो मर गया है, अब उस नए नानक का जन्म हुआ है, जिसके हृदय में भगवान की ज्योति उतर आई है, अब जिसके लिए दुनिया में सब बराबर हैं। जो सबको अपना प्यारा भाई समझता है। कहते-कहते नानक के मुख पर एक तेज चमकने लगा। जमींदार ने कुछ देखा और कुछ समझा, किंतु फिर भी कहा—अगर आप किसी में अंतर नहीं समझते और मुझे अपना भाई समझते हैं, तो मेरे साथ मसजिद में नमाज पढ़ने चलिए। नानक ने जरा संकोच नहीं किया और एक एकेश्वरवादी संत उसके साथ मसिजद चला गया।

जिस समय नानक मक्का की यात्रा को गए, घटना उस समय की है। निर्द्वंद्व संत दिनभर स्थान-स्थान पर सत्संग करते, मुसलमान धर्म का स्वरूप समझते और अपने धर्म का प्रचार करते फिरते रहे। एक रात में मस्ती के साथ एक मैदान में पड़कर सो रहे थे। संयोगवश उनके पैर काबा की ओर फैले हुए थे। उधर से कई मुसलमान निकले। वे बड़े ही संकीर्ण विचार वाले थे। उन्होंने गुरुनानक को काबे की तरफ पैर किए लेटा देखा तो आपे से बाहर हो गए। पहले तो उन्होंने उन्हें काफिर आदि कहकर बहुत सी गालियाँ दीं और तब भी जब उनकी नींद न टूटी तो लात-घूँसों से मारने लगे। नानक जागे और नम्रता से

बोले—"भाई क्या गलती हो गई, जो मुझ परदेशी को आप लोग मार रहे हैं।"

मुसलमान गाली देते हुए बोले—"तुझे सूझता नहीं कि इधर काबा—खुदा का घर है और तू उधर ही पैर किए लेटा है।"

नानक ने कहा—"उसे सब जगह और सब तरफ न मानकर किसी एक खास जगह में मानना, मनुष्य की अपनी बौद्धिक संकीर्णता है। अच्छा हो कि आप लोग भी उसे मेरी ही तरह सब जगह और सब तरफ मानें। इसी में खुदा की बड़ाई है और इसी में हमारी सबकी भलाई है।"

गुरुनानक की सहनशीलता, निर्भीकता और ईश्वरीय निष्ठा देखकर मुसलमानों का अज्ञान दूर हो गया। उन्होंने उन्हें सच्चा संत समझा और अपनी भूल की माफी माँगकर, उनका आदर किया।

❑

पति की नाव पत्नी ने खेई

श्री जगदीश चंद्र बसु कलकत्ता यूनिवर्सिटी में विज्ञान के अध्यापक नियुक्त किए गए। अभी तक ऐसा सम्मान किसी भी भारतीय को उपलब्ध नहीं हुआ था। इसलिए श्री जगदीशचंद्र बसु को भारतीय बड़ा भाग्यशाली मानते थे।

कुछ दिन पीछे पदोन्नति का समय आया। श्री बसु को पदोन्नत कर दिया गया, पर अब वे जिस पद पर पहुँचे, उस पर पहले से काम कर रहे अंगरेज पदाधिकारी की अपेक्षा उन्हें वेतन कम दिया गया। जहाँ अन्य संबंधियों ने उन्हें इस बात की उपेक्षा करने की सलाह दी, वहाँ श्री जगदीश चंद्र बसु ने इसे अपने स्वाभिमान पर आघात माना और तब तक वेतन लेने से इनकार कर दिया जब तक कि उनका स्वयं का वेतन अंगरेज पदाधिकारी के बराबर नहीं कर दिया जाता।

इस तरह का सत्याग्रह करते हुए भी उन्होंने अध्यापन कार्य नहीं छोड़ा।

आजीविका का स्रोत बंद हो जाने के कारण घर खरच चलाने की तंगी आ गई। उनकी धर्मपत्नी ने ऐसे गाढ़े समय पति के स्वाभिमान को चोट न आने देने व उनको किसी प्रकार मानसिक कष्ट न होने देने में पूर्ण तत्परता बरती।

उन दिनों में हुगली नदी पर पुल नहीं बना था। कॉलेज जाने के मार्ग में हुगली नदी पड़ती थी, उसे पार करने में प्रतिदिन आठ आने देने पड़ते थे। इस तरह के कई अनावश्यक खरच थे, जिन्हें उनकी धर्मपत्नी ने बचा लिया, पर इस खरच को रोक सकना कठिन था।

कोई उपाय नहीं सूझ रहा था, तब श्रीमती अवला बसु ने अपने एक मांगलिक आभूषण को बाजार में बेचकर एक छोटी सी नाव खरीद ली। उस दिन से वह स्वयं नदी तक उनके साथ जातीं। नाव में बैठकर पार पहुँचा आतीं और वापस घर आकर अपना काम-काज करतीं। सायंकाल फिर ठीक समय वे नाव लेकर पहुँच जातीं और बसु को उसमें बैठाकर साथ लेकर आतीं।

सरकार को इस बात का पता चला तो उसने यह लिखते हुए—"जिसकी ऐसी निष्ठावान पत्नी हो उसका वेतन नहीं रोका जा सकता।" उनका वेतन अंगरेज पदाधिकारी के बराबर कर दिया और अपनी पराजय मान ली।

❑

फूल एक सजीव सौंदर्य

दार्शनिक अरस्तू को फूलों से बड़ा प्रेम था। उन्हें जितना अवकाश का समय मिलता था, उस समय का संपूर्ण उपयोग फूलों के पौधे रोपने, उनकी क्यारियों में जल भरने, निकाई करने और गोड़ाई करने में करते थे। उनकी छोटी सी बगीची,

उसमें नाना प्रकार के हरे, नीले, पीले, लाल, गुलाबी फूल झूमते रहते थे, गरमियों में भी पास से गुजरने वाले लोगों को हरियाली और सुगंध का लाभ मिलता था। दोनों वस्तुएँ ऐसी हैं, जिन्हें देखते ही आत्मा खिल उठती है, मन प्रफुल्लित हो उठता है।

एक दिन एक मित्र ने पूछा—"आपको फूलों से इतना प्रेम क्यों है?" तो उन्होंने मुस्कराकर कहा—"यों कि फूल परमात्मा का सौंदर्य-बोध कराता है। फूलों को देखकर मानव सात्विक, सरल व सुरुचि भाव जाग्रत करता है। अंत:करण की जो कोमल वृत्तियाँ हैं, फूलों के सान्निध्य और दर्शन से उनका विकास होता है। इसीलिए तो लोग देवालयों में जाकर फूल चढ़ाते हैं कि उनकी कोमल भावनाएँ परमात्मा स्वीकार करे और स्नेह आशीर्वाद प्रदान करे।"

विदेशों में फुलवाड़ी लगाने में लोग बहुत रुचि प्रदर्शित करते हैं, बहुत धन खरचते हैं और अच्छे-अच्छे फूलों की नसलें, किस्में प्राप्त करने के लिए परिश्रम भी करते हैं। खेद है कि धार्मिक वृत्ति का देश होते हुए भी अब अपने देश में फूल लगाने की रुचि उतनी नहीं रही। प्रतिदिन उपासना, देव-प्रतिमाओं पर माल्यार्पण और पुष्पार्पण के लिए फूलों की आवश्यकता होती है। शुचिता, स्वच्छता आदि की तरह फूलों को उपासना का अविच्छिन्न अंग ही माना गया है, इस संबंध में पद्मपुराण के क्रियायोग के प्राय: ८९ और २८०वें अध्यायों में संपूर्ण रूप से फूलों की उपयोगिता का भी विवेचन हुआ है। लिखा है—

चैत्रे तु चम्पकेनैव जातिपुष्पेण वापुन:।
पूजनीय: प्रयत्नेन केशव: क्लेशनाशन:॥
वैशाखे तु सदा देवि ह्यर्चनीयो महाप्रभु:।
केतकी पत्रमादाय वृषस्थे च दिवाकरे॥

चैत्र में कमलपुष्प, जाति पुष्प, चंपा, दौना, कटसरैया, वरुण पुष्प, वैसाख में केतकी, ज्येष्ठ में यही पुष्प, आषाढ़ में कनेर (करवीर), कदंब तथा कमल पुष्पों से पूजा करनी चाहिए।

यह संदर्भ तत्कालीन लोगों में फूलों की अभिरुचि व्यक्त करते हैं। यद्यपि तब विविध पुष्पों की उपज माली करते थे। पर अब मालियों के पास न तो वैसे साधन-सुविधाएँ हैं और न रुचि ही, इसलिए फूलों की आवश्यकता की पूर्ति हर गृहस्थ को स्वयं करनी चाहिए।

घरों के आस-पास काफी जमीन बेकार पड़ी रहती है, उनकी क्यारियाँ बनाकर, स्थायी और कुछ समय फूल देने वाले पौधे रोपे जा सकते हैं, जहाँ भूमि का अभाव है, वहाँ गमले सजाकर रखे जा सकते हैं। थोड़ा भी समय देकर उनकी सिंचाई आदि की व्यवस्था की जा सके तो हर घर में आवश्यकता के अनुरूप फूल उपजाए जा सकते हैं। कुछ लोग बड़े पैमाने पर खेती भी कर सकते हैं।

उपासना की आवश्यकता की पूर्ति के साथ ही इस अभिरुचि से आस-पास के वातावरण में सौंदर्य का विकास होता है। फूलों से दृश्य मनोरम हो जाता है। जहाँ फूल होते हैं यह समझा जाता है कि यहाँ सुसंस्कृत और विचारवान लोग निवास करते हैं। किसी भी दृष्टि से फूलों की अभिरुचि मनुष्य की प्रसन्नतादायक ही होती है। हमें एक नए सिरे से पुष्प, उत्पादन का अभियान प्रारंभ करना चाहिए। स्वयं फूल उगाएँ, उपासना के समय प्रयोग करें, दूसरों को स्नेह के आदान-प्रदान के रूप में दिया करें। बीज और पौधों का वितरण करके भी फूल अभियान को सफल बनाया जा सकता है।

❑

निर्धनता से प्यार

संत फ्रांसिस एक धनवान पिता के पुत्र थे। उनके यहाँ कपड़े का बड़ा व्यापार होता था। अपने प्रारंभिक जीवन में फ्रांसिस बड़ी शान से रहते थे। अच्छा-अच्छा खाते और कीमती कपड़े पहनते थे। पर बाद में उनका हृदय ऐसा बदला कि उन्हें गरीबों से प्रेम हो गया। उन्होंने सब कुछ त्याग दिया और गरीबों की सेवा में लग गए।

एक बार एक भिखारी उनकी दुकान पर आया और बोला—"भाई, मुझे कुछ खाने-पहनने को दो, मैं बहुत भूखा हूँ और जाड़े से मर रहा हूँ। फ्रांसिस को उसकी दशा पर बड़ी दया आई और उन्होंने उस गरीब को खाना खिलवाया और तन ढकने के लिए कपड़ा दिया। जब उनके पिता को इस बात का पता चला तो वे फ्रांसिस पर बहुत बिगड़े और बोले—धन इसलिए नहीं है कि वह इस तरह भिखमंगों को लुटा दिया जाए। संत फ्रांसिस को पिता की इस बात से बड़ा दुःख हुआ। वे सोचने लगे—वह धन यों बेकार की ही चीज है, जो गरीबों और असहायों की मदद करने में नहीं लगाया जा सकता। जब हजारों लोग हमारे सामने ही भूखों मर रहे हैं और नंगे घूम रहे हैं, तो हमें इस प्रकार धन जमा रखकर धनवान बने रहने का क्या अधिकार है? उन्हें धन से घृणा हो गई और वे शान-शौकत का जीवन छोड़कर सादे ढंग से रहने लगे।

एक बार फ्रांसिस घोड़े पर चढ़े हुए कहीं जा रहे थे। रास्ते में उन्हें एक कोढ़ी दिखाई दिया। वह नंगा पड़ा पीड़ा से कराह रहा था। पहले तो उसकी दशा देखकर, उन्हें बड़ी घृणा हुई। पर तत्काल ही उनकी आत्मा ने कहा—"धिक्कार है फ्रांसिस! जिसकी तुम्हें मदद करना चाहिए, उसे देखकर तुम घृणा करते हो।" उनकी मनुष्यता जाग उठी। वे तत्काल घोड़े से उतरे। कोढ़ी को गले लगाया और सेवा से उसका कष्ट दूर किया। अपने पास के कपड़े और पैसे उसे दे दिए।

इस उपकार से फ्रांसिस की आत्मा बड़ी करुण हो गई और निर्धनता के प्रति उनका प्रेम जाग उठा। वे दिन-रात गरीबों की चिंता में रहने लगे। एक दिन उन्हें चिंतित देखकर, उनके एक मित्र ने कहा—"भाई आजकल बड़े विचारशील बने रहते हो, क्या विवाह करने का विचार कर रहे हो?" फ्रांसिस ने उत्तर दिया—"हाँ, विचार तो कुछ ऐसा ही है। एक बड़ी सुंदर स्त्री से विवाह करने का विचार है। बताओ वह स्त्री कौन है?" मित्र ने कहा—"कोई भी हो, होगी बड़ी भाग्यवान। बताओ वह कौन है?" फ्रांसिस ने कहा—"उस सुंदर देवी का नाम है निर्धनता।" मैं उसी से विवाह करने का विचार कर रहा हूँ। फ्रांसिस ने अपने विचार को चरितार्थ किया और न केवल निर्धनता ही स्वीकार कर ली बल्कि निर्धनों के महान सेवक बन गए।

फ्रांसिस एक बार गिरजाघर में प्रार्थना करने गए। यह गिरजाघर बड़ा टूटा-फूटा था। भगवान के घर की दशा देखकर उन्हें बड़ा दु:ख हुआ। वे घर आए और कपड़े की कई गाँठें और अपना घोड़ा बेच डाला। उसका सारा पैसा ले जाकर पुजारी को गिरजाघर की मरम्मत के लिए दे दिया।

पिता को पता चला तो उन्होंने फ्रांसिस को बहुत मारा और विशप के पास ले जाकर कहा कि यह लड़का मेरा धन बरबाद किए जा रहा है, मैं इसे अपनी संपत्ति से वंचित करना चाहता हूँ।

पिता की बात सुनकर फ्रांसिस खुशी से उछल पड़े, बोले—आपने मुझे एक बहुत बड़े मोह-बंधन से मुक्त कर दिया है। स्वयं ही उस संपत्ति को दूर से प्रणाम करता हूँ, जो परमार्थ और परोपकार में काम नहीं आ सकती। इतना कहकर उन्होंने कपड़े तक उतारकर रख दिए और एक चोगा पहनकर चले गए।

❑

अपनी तृप्ति को धर्म मत बनाओ

धर्म का एक निश्चित विश्वास है, पारलौकिक जीवन की सुख-शांति और बंधन-मुक्ति । पर उस विश्वास की पुष्टि कैसे हो, इसके लिए धर्म की एक कसौटी है और वह यह है कि व्यक्ति का प्रस्तुत जीवन भी शांत, बंधन-मुक्त , कलह, अज्ञान और अभाव-मुक्त होना चाहिए।

धर्म का पालक बनें, किंतु वह विशेषताएँ परिलक्षित न हों तो यह मानना चाहिए, वहाँ धर्म नहीं, अपनी तृप्ति का कोई खिलवाड़ या षड्यंत्र चल रहा है। आज सर्वत्र ऐसे ही भोंड़े धर्म के दर्शन होते हैं। विचारशील व्यक्ति ऐसे धर्म को कभी भी स्वीकार नहीं करते, चाहे उसके लिए कितना ही दबाव पड़े, दुराग्रह हो या भयभीत किया जाए।

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है, जब उन्होंने जीवन का संकट मोल लेकर भी इस तरह के अंधविश्वास का प्रतिवाद किया।

एक बार नगर के एक देवमंदिर में कोई उत्सव था। नगरवासी प्लेटो को उसमें सम्मिलित होने के लिए सम्मानपूर्वक ले आए। नगरवासियो के प्रेम और आग्रह को प्लेटो ठुकरा न सके, उत्सव में सम्मिलित हुए। वैसे उनका विचार यह था कि इस तरह के उत्सव आयोजनों में किया जाने वाला व्यय मनुष्य के कल्याण में लगना चाहिए। बाहरी टीम-टाम, दिखावे या प्रदर्शनबाजी में नहीं।

मंदिर में जाकर एक नया ही दृश्य देखने को मिला। नगरवासी देवप्रतिमा के सामने अनेक पशुओं की बलि चढ़ाने लगे। जो भी आता, एक पशु अपने साथ लाता। देवप्रतिमा के सामने खड़ा कर उस पर तेज अस्त्र से प्रहार किया जाता। दूसरे क्षण वह पशु तड़पता हुआ अपने प्राण त्याग देता और दर्शक यह सब देखते, हँसते-इठलाते और नृत्य करते।

जीव मात्र की अंतर्व्यथा की अनुभूति रखने वाले प्लेटो से यह दृश्य देखा न गया। उन्होंने पहली बार धर्म के नाम पर ऐसे नृशंस आचरण के दर्शन किए। यहाँ दया, करुणा, संवेदना और आत्मपरायणता का कोई स्थान न था।

वे उठकर चलने लगे। उनका हदय अंतर्नाद कर रहा था। तभी एक सज्जन ने उनका हाथ पकड़कर कहा—"मान्य अतिथि! आज तो आपको भी बलि चढ़ानी होगी, तभी देवप्रतिमा प्रसन्न होगी। लीजिए यह रही तलवार और यह रहा बलि का पशु। वार कीजिए और देवप्रतिमा को अर्घ्यदान दीजिए।"

प्लेटो ने शांतिपूर्वक थोड़ा पानी लिया। मिट्‌टी गीली की। उसी का छोटा सा जानवर बनाया। देवप्रतिमा के सामने रखा तलवार चलाई और उसे काट दिया और फिर चल पड़े घर की ओर।

अंध-श्रद्धालु इस पर प्लेटो से बहस करने लगे—"क्या यही आपका बलिदान है।"

हाँ, प्लेटो ने शांति से कहा—"आपका देवता निर्जीव है, उसे निर्जीव भेंट उपयुक्त थी—सो चढ़ा दी, वह खा-पी सकता नहीं इसलिए उसे मिट्‌टी चढ़ाना बुरा नहीं।

उन धर्मधारियों ने प्रतिवाद किया और कहा कि जिन लोगों ने यह प्रथा चलाई? क्या वे मूर्ख थे, क्या आपका अभिप्राय यह है कि हमारा यह कृत्य मूर्खतापूर्ण है?

प्लेटो मुस्कराए, पर उनका अंतर कराह रहा था। जीवमात्र के प्रति दरद का भाव अब स्पष्ट ही हो गया। उन्होंने निर्भीक भाव से कहा—"आप हो या पूर्वज, जिन्होंने भी यह प्रथा चलाई—पशुओं का नहीं, मानवी करुणा की हत्या का प्रचलन किया है। कृपया न देवता को कलंकित करो, न धर्म को। धर्म, दया और विवेक का पर्याय है, हिंसा और अंधविश्वास का पोषक नहीं हो सकता।"

इस प्रश्न का जवाब किसी के पास न था। नगरवासी सिर झुकाए खड़े रहे। प्लेटो उनके बीच से चले आए। ऐसे ही धर्म को स्वार्थ-साधन बनाने वालों के पास से परमात्मा भाग जाते हैं।

❑

यह खटकने वाला त्याग का अभाव

मेरे कुछ मित्र ढाका से लौट रहे थे। मार्ग में वह स्टीमर, जिस पर यात्रा हो रही थी, किसी समुद्री चट्टान से टकरा गया और चूर-चूर होकर डूब गया। यात्रा कर रहे तीनों यात्री संकट में पड़ गए।

संयोग से एक नाव पास से गुजरी। डूबने वालों ने नाविक को पुकारा पर उसने कतई ध्यान नहीं दिया। डूबने वाले डूबते जाते थे और सहायता की प्रार्थना भी करते जाते थे। जीवन के प्रति प्यार छाटपटाता रहा, पर मछुओं में से कोई भी उनकी सहायता को तत्पर न हुआ, जबकि वे तीनों को बचा सकते थे। आत्मत्याग का यह अभाव ही तो आज विश्वभर में अशांति, कलह और विद्वेष का कारण है। कदाचित मनुष्य, मनुष्य के प्रति उत्सर्ग करना जानता तो कितना अच्छा होता?

एक दिन और आया, हम एक खाड़ी में नौका-विहार कर रहे थे। मछुओं ने मछली पकड़ने के लिए खूँटे गाड़ रखे थे। हमारी नाव उनसे टकरा गई और डूबने लगी। मछुओं को पुकार लगाई गई, पर उनका ध्यान मछली पकड़ने में लगा था, हमारी कौन सुनता?

हमारे मित्र ने कहा—जो हमें बचाएगा हम उसे सौ रुपया देंगे। फिर क्या था सब दौड़े। हाथोहाथ बचा लिए गए। मछुओं को हमारे प्रति कोई करुणा न थी, कोई दया न थी। सहानुभूति और सेवा का कोई भाव न था। वे सौ के नोट को देखकर प्रसन्न हो रहे थे। उनके जीवन में धन ही सब कुछ था।

एक दिन हम सागर के तट पर खड़े सिंधुराज की लहरों का खेल देख रहे थे। प्रकृति में कितनी संवेदना है कि उसका हर कण इतना प्यारा है कि उसे भुलाओ तो भूलता नहीं। पर उससे भी प्यारा है आहत हृदयों की सेवा का भाव, जिसकी शांति के आगे प्रकृति की शांति, सौंदर्य सब कुछ फीका है।

पर तभी ऐसा दिखाई दिया कोई स्त्री सागर में डूब रही है। प्रयत्न करने पर उसे बचाया जा सकता था। हृदय ने कहा—उछलो और समुद्र में कूद पड़ो, तुम्हारे जीवन से किसी जीवन की रक्षा का सुख क्यों न उठाओ? पर विवशता थी शरीर अशक्त था, हम तैर नहीं सकते थे।

कुछ मछुए खड़े थे। हमने कहा—भाई जो उस स्त्री को बचाएगा उसे बीस रुपए देंगे। मछुओं ने बिलकुल ध्यान न दिया। जो मछलियों को मारते हैं, उनकी तड़प देखकर भी दया नहीं करते। जीवों से जिन्हें प्रेम नहीं, वह मनुष्य से ही कहाँ प्रेम करने लगे?

हमने कहा—सौ रुपए देंगे। तब तो उन्हें सौदे में और भी आकर्षण दिखाई दिया। तब वे दोड़े और स्त्री को पानी से निकालकर लाए। पैसे से मोह हो तो मनुष्य की आत्मा कितना गिर जाती है, इसका अनुमान उस दिन हुआ, तब से संसार का यह साधन भी तुच्छ लगता है।

इसी बीच टाइटेनिक जहाज के डूबने की घटना अखबारों में पढ़ी। दो हजार यात्रियों को लेकर यह जहाज अटलांटिक महासागर में जा रहा था। एक रात वह ग्लेशियर से टकरा गया और डूबने लगा। उसमें अधिकांश योरोप और अमेरिका के धनी व्यक्ति थे, सबने अपने धन और जीवन की चिंता छोड़ दी और सर्वप्रथम स्त्री और बच्चों को बचाने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में कई लोग डूब भी गए, पर अपनी आत्मा के अंदर उन्होंने कमजोरी नहीं आने

दी। अपनी आत्मा के आगे उन्होंने अपने आप को कायर नहीं होने दिया।

यह समाचार पढ़ता हूँ, याद करता हूँ तो आँखें छलक उठती हैं। सोचता हूँ, वह कौन सा दिन होगा, जब इस तरह का प्यार और आत्मत्याग का भाव मानवीय अंतःकरणों को छुएगा।

❑

अभिभावक की गलती का दंड भी उसे ही

बात बहुत दिनों की है, जब गांधी जी दक्षिण अफ्रीका के फिनिक्स आश्रम में रहते थे। आश्रम के नियमानुसार विद्यार्थियों को कई–कई दिन का अस्वाद व्रत कराया जाता था। कौन, कब और कितने दिन का अस्वाद व्रत करेगा? इसका निश्चय गांधी जी ही किया करते थे।

एक दिन भोजन में खिचड़ी के साथ कढ़ी भी बनी। खिचड़ी बिना नमक की थी, जिन्हें अस्वाद व्रत करना था, उन्हें केवल खिचड़ी दी जानी थी; जिन्हें अस्वाद व्रत नहीं करना था वे कढ़ी भी ले सकते थे।

आश्रम में दूध–दही का प्रयोग कम होता था, इसलिए हर विद्यार्थी की यह इच्छा थी कि कढ़ी खाने को मिले, लेकिन गांधी जी अपने निश्चय के बड़े पक्के थे। उन्होंने कहा—व्रत तोड़ने से आत्मा कमजोर होती है, इसलिए जीभ के स्वाद के लिए व्रत नहीं तोड़ा जा सकता, जो लोग उसका कड़ाई से पालन नहीं कर सकते उनके लिए उचित था। वे पहले से ही व्रत न लेते, पर व्रत लेकर बीच में भंग करना तो एक तरह का पाप है।

विद्यार्थी मन मारकर रह गए। कढ़ी उन्हें ही मिली जो नमक ले सकते थे। शेष के लिए गांधी जी ने घोषणा कर दी कि जिस दिन उनका व्रत पूरा हो जाएगा उनके लिए कढ़ी बनवा दी जाएगी। लड़के चुप पड़ गए। जिसके लिए जो निर्धारित था भोजन कर लिया।

लेकिन गांधी जी के पुत्र देवदास अड़ गए कि मुझे तो आज ही कढ़ी चाहिए। गांधी जी के पास खबर पहुँची तो उन्होंने देवदास को बुलाकर पूछा—"अभी तुम्हारा अस्वाद व्रत कितने दिन चलेगा?" "आठ दिन," देवदास बोले—"लेकिन मैं नौ दिन, दस दिन कर लूँगा, पर आज तो मुझे कढ़ी मिलनी ही चाहिए। मेरा कढ़ी खाने का मन हो रहा है।"

दुखी होकर गांधी जी बोले—"बेटा दूध, दही, टमाटर, रोटी, तेल जो कुछ चाहिए ले लो, नमक पड़ी कढ़ी तो आज तुझे नहीं मिलेगी। तू ही आश्रम के नियमों का कड़ाई से पालन न करेगा, तो और विद्यार्थियों में वह दृढ़ता कहाँ से आएगी?"

गांधीजी की सीख का भी देवदास पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे वहीं खड़े-खड़े रोने लगे। सारे आश्रमवासी खड़े कुतूहलवश देख रहे थे कि आगे क्या होता है?

देवदास का रोना देखकर गांधी जी बड़े दुखी हुए। एक बार तो उनके मन में आया कि देवदास को दंड दिया जाए, पर तभी उनके मन में विचार आया कि कुछ दिन पहले वे स्वयं भी ऐसे ही किया करते थे। तब उन्हें ऐसा करते बालक देवदास भी देखा करता था, यह उसी का तो फल है कि आज देवदास भी वही कर रहा है।

अभिभावक जो काम लड़कों के लिए पसंद नहीं करते, पहले उन्हें अपने से वह आदत दूर करनी चाहिए। अपनी भूल को न सुधारा जाए, तो लड़कों को आदर्शवादी नहीं बनाया जा सकता। इसमें दोष देवदास का नहीं, मेरा है, फिर दंड भी देवदास को क्यों दिया जाए?

घबराते हुए गांधी जी ने सबके सामने अपने गाल पर जोर-जोर से दो तमाचे मारे और कहा—देवदास, यह मेरी भूल का परिणाम है, जो तू आज यों मचल रहा है, अपनी भूल की सजा तुझे कैसे दे सकता हूँ, उसे तो मुझे ही भोगना चाहिए।

इस बात का देवदास पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि फिर कढ़ी के लिए उसने एक शब्द भी नहीं कहा, अपना अस्वाद व्रत नियमपूर्वक पूरा किया।

❑

विवाह की अपेक्षा सेवाधर्म श्रेयस्कर

एक साथ, एक ही गाँव में छह बच्चे एक ही बीमारी से पीड़ित। सभी लकवे के शिकार। तेज और असह्य बुखार। उसने ऐसे मरीज पहले कभी न देखे थे।

यह बात १९१० ई० की है, जब एक युवती अपने घोड़े पर चढ़ी आस्ट्रेलिया के एक आदिवासी क्षेत्र में घूमने आई थी। अब तक जिसे अपने वैभव और ऐश्वर्य से ही अवकाश न मिलता था, आज उसे पता चला कि दुनिया में दैन्य और दारिद्र्य भी कम नहीं। परमात्मा के प्रति वह कृतज्ञ होती आई थी, पर जब उसने देखा कि हमने स्वयं उसकी अनंत कृपा के प्रति अपना कर्त्तव्य-भाव जाग्रत नहीं किया तो उसे बड़ी ग्लानि हुई। जब आधे से अधिक संसार अविकसित, अशिक्षित और पीड़ाओं से घिरा पड़ा हो तो साधन संपन्न खुशियाँ मना रहे हों, यह कल्पना भी उसे असह्य प्रतीत हुई।

एक डॉक्टर को तार भेजा। डॉक्टर ने जवाब भेजा, अभी समय नहीं है। उसने थोड़ी नर्सिंग सीखी थी। डॉक्टरों के अध्ययन से भी कुछ समाधान प्राप्त किए थे, सो उसने अपने ही विश्वास पर ओषधि मँगाकर उन बच्चों को दी। थोड़ी गरमी प्रतीत हुई। जिन अंगों में रक्त-संचार बंद हो गया था, धीरे-धीर फिर प्रारंभ हो गया। कई दिन कई रातों की अथक सुश्रूषा के बाद बच्चे उठ बैठे। युवती को ऐसा लगा जैसे सेवा के सुख से बढ़कर संसार में और कोई वस्तु नहीं। सम्मान तो सब कोई ले सकता है, पर आत्मीयता भरा प्यार का आनंद वही प्राप्त कर सकता है, जिसे सेवा का सौभाग्य मिला हो।

यह बात डॉक्टरों ने सुनी। उन्होंने इस लड़की की बड़ी प्रशंसा की और उसे नियमित रूप से नर्सिंग करने के लिए प्रोत्साहित किया। लड़की को अपनी योग्यता पर विश्वास न था, सो वह बोली—"यह जो कुछ हुआ वह भगवान की कृपा मात्र थी, मैं तो नर्सिंग पढ़ी भी नहीं, मुझमें यह योग्यता कहाँ से आएगी?"

एक डॉक्टर ने कहा—"क्षमता अपने भीतर से उत्पन्न होती है। तुम नहीं जानती मनुष्य में कितनी शक्ति है? उसका उपयोग न करने के कारण सब कुछ असंभव लगता है, यदि तुम अपने आप पर विश्वास करो तो इन्हीं परिस्थितियों में पहाड़ के बराबर काम कर सकती हो?"

सचमुच कोई क्षमता जाग जाए तो हर व्यक्ति एक डॉक्टर है, शिक्षक है, इंजीनियर है, नेता है, समाजसुधारक है। मनुष्य का ढाँचा सर्वत्र एक है, एक ही दिशा में योग्यता का विकास ही उसे डॉक्टर, शिक्षक, इंजीनियर, नेता या समाजसुधारक बना देता है। चाहे यह योग्यता विद्यालय में विकसित हुई हो या अपने आप पैदा कर ली गई हो। दोनों ही रास्ते एक ही लक्ष्य की पूर्ति करते हैं।

लड़की ने अपनी योगताएँ बढ़ानी शुरू की। नर्सिंग की अनेक पुस्तकें मँगाकर उसने पढ़ी। डॉक्टरों से पूछताछ की। सामान्य मरीजों पर औषधियों के प्रयोग किए, हिम्मत खुलती चली गई और एक दिन उसने यह सिद्ध कर दिखाया कि योग्यताएँ संस्थानों में ही नहीं पनपती, वरन घरों में अवकाश के प्रत्येक क्षण के उपयोग से कहीं भी बैठकर वे बढ़ाई जा सकती हैं। ऐसी योग्यताएँ किसी भी विधिवत शिक्षण प्राप्त योग्यता से कम नहीं होतीं। प्रमाणतः वह प्रथम महायुद्ध में एक जहाजी अस्पताल में नर्स नियुक्त कर ली गई।

बहुत दिनों से उसके एक संबंधी की इच्छा थी कि वह शादी कर ले। उन्होंने विनम्र भाव से अपनी असहमति प्रकट

करते हुए कहा—जब बहुत सारा संसार दीन-हीन अवस्था में पड़ा हो, तब कुछ ऐसे व्यक्ति भी निकलने ही चाहिए जो सांसारिक सुखों का स्वेच्छा से त्यागकर अपने आप को इन कल्याण कार्यों में नियोजित कर सकें। मेरे लिए अब 'सेवा' ही शादी है। लौकिक सुखों को यों परित्याग करके और अपनी योग्यताएँ बढ़ाने के लिए प्रतिपल सन्नद्ध रहने वाली, किसी स्कूल से जिसे डिग्री नहीं मिली, वही वीरबाला एक दिन सिस्टर एलिजाबेथ केनी के नाम से सारे विश्व में विख्यात हुई। उसकी शोध की हुई अनेक औषधियाँ अमेरिका, पेरिस, ब्रसेल, मास्को और ब्रिटेन तक पहुँचीं। अनेक विश्वविद्यालयों ने उसे 'डाक्ट्रेट' की उपाधि से विभूषित किया।

❑

धन व्यक्ति का नहीं सारी प्रजा का

नासिरुद्दीन दिल्ली की गद्दी पर बैठा था, पर वह वैभव और ऐश्वर्य भी उसकी ईश्वरनिष्ठा, सादगी, सिद्धांतप्रियता और सरलता को मिटा न सका। होता यह है कि जब किसी को कोई उच्चाधिकार मिलता है, तो भले ही कार्य प्रजा और समाज की सेवा और भलाई का हो, वह अपना स्वार्थ-साधन करने लगता है, अहंकारपूर्वक वर्गहित का ध्यान भूल जाता है।

उन सबके लिए नासिरुद्दीन का जीवन एक पाठ है। उससे शिक्षा मिलती है कि बड़प्पन मनुष्य की आदर्श भावनाओं और सचाईपूर्वक कर्त्तव्यपरायणता का है, दर्प और स्वार्थ का, धन का नहीं।

नासिरुद्दीन गद्दी पर बैठे तब भी उनकी धर्मपत्नी को भोजन अपने हाथ से ही पकाना पड़ता था। राजा स्वयं उन्हीं के हाथों का भोजन करता। उस भोजन में न तो बहुत विविधता होती और न मिर्च-मसाले। सीधा, सरल, औसत दरजे का भोजन

बनता और राज-परिवार इसे ही ग्रहण करता। यद्यपि राजकोश और धन की कमी न थी। नासिरुद्दीन चाहते तो राजसी ठाठ-बाट का भोजन भी पकवाते। दस-बीस रसोइए भी रख लेना उनके लिए पलक मारने की तरह सरल था, तो भी सरल सम्राट ने प्रदर्शन नहीं किया, अपने आप को भी सामान्य नागरिक जैसा ही प्रस्तुत किया। अपने काम वह स्वयं अपने हाथ से करता तो बेगम को क्यों न वैसा ही जीवन बिताना पड़ता?

सामान्य जीवन में जो कठिनाइयाँ रहती हैं, उनका अभ्यास उन्हें भी करना पड़ा। इससे उन्हें प्रजा का यथार्थ हित समझने का अवसर मिला। प्रजा भी ऐसे नेक राजा से बड़ा स्नेह रखती। संसार कैसा भी हो, लोग आदर्श, सच्चे और ईमानदारों का सम्मान और प्रतिष्ठा करते हैं, भले ही वह छोटा आदमी क्यों न हो! अहंकारी और धूर्त लोग चाहे कितने ही वैभवशाली क्यों न हों, उन्हें हृदय से कोई सम्मान नहीं देता।

गरमी के दिन थे। इन दिनों गरमी तो होती ही है, लू भी चलती है। बेगम एक दिन भोजन बना रही थीं बाहर से हवा का झोंका आया, लपट उठी और उससे उनका हाथ जल गया। वे बहुत दुखी हुईं, आँखें भर आईं, आँसू बहने लगे।

नासिरुद्दीन भोजन के लिए आए तो बेगम ने विनीत भाव से पूछा—"मुझे अकेले सब काम करने पड़ते हैं, उससे बड़ी मुश्किल पड़ती है, आपके पास इतना सारा राज्य, कोष और वैभव है, क्या हमारे लिए भोजन पकाने वालों की भी व्यवस्था नहीं कर सकते?

चिंतनशील नासिरुद्दीन गंभीर हो गया। उसने कहा—"बेगम! आपकी इच्छा पूरी की जा सकती, पर उसका एक ही उपाय है कि हम अपने सिद्धांतों से डिगें, बनावट और बेईमानदारी का जीवन जीएँ। यह धन जो तुम देखती हो, वह मेरा नहीं, सारी प्रजा का है, मैं तो उसका मात्र व्यवस्थापक हूँ। व्यवस्थापक के लिए जितनी सुविधाएँ और पारिश्रमिक चाहिए, हम उतना ही लेते हैं, अब आप

ही बताइए, अतिरिक्त व्यवस्था के लिए अतिरिक्त धन कहाँ से आए ? फजूलखरची न तो मेरे हित में है और न ही प्रजा के हित में, फिर वैसी व्यवस्था कैसे की जा सकती है ?''

नासिरुद्दीन की दृढ़ता और सिद्धांतप्रियता के आगे बेगम को चुप रह जाना पड़ा। इससे वह असंतुष्ट नहीं वरन पति में सच्चे देवत्व के दर्शन कर प्रसन्न ही हुई।

जब तक राजा रहा, नासिरुद्दीन ने कभी भी वैभव का जीवन नहीं, बिताया। अपने अतिरिक्त व्यय की व्यवस्था वह अतिरिक्त परिश्रम से करता था। अवकाश के समय सिली हुई टोपियों, लिखी हुई कुरानों की बिक्री से जो धन मिलता था, नासिरुद्दीन उसे ही काम में लेता था। इस तरह उसने अधिकारी और प्रजा के बीच समन्वय का अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया।

❑

धर्म पर आस्था रखने वाले—दया न छोड़ें

नावेल्ड (अलवानिया) का एक छोटा देहाती गाँव है, जहाँ अधिकांश कृषक रहते हैं। वहाँ की परंपरा और स्थिति ऐसी है, जिससे वहाँ अधिकांश व्यक्ति मांसाहार को स्वाभाविक भोजन मानते और प्रयोग करते हैं।

ऐसे ही एक कृषक परिवार का छोटा बालक न्यूनररिचे पास के मिशन स्कूल में भरती हुआ। स्कूल में सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त एक घंटा धर्म की शिक्षा भी होती थी। ढर्रा मुद्दतों से चल रहा था। पादरी बाइबिल पढ़ाते और लड़के उसे पढ़ते। ऊँचे आदर्शों की चर्चा होती, ईसाई धर्म का गौरव बताया जाता, पर था वह सब धर्मशिक्षण—जानकारी की आवश्यकता पूरी करने तक ही सीमित।

एक दिन धर्मशिक्षा के घंटे में पादरी प्रभु यीशु की सहृदयता और शिक्षा की विवेचना कर रहे थे। वे बता रहे थे—''यीशु ने दया

और करुणा की सरिता बहाई तथा अपने अनुयायियों को हर प्राणी के साथ दया का सहृदय व्यवहार करने का उपदेश दिया। सच्चे ईसाई को ऐसा ही दयावान होना चाहिए।"

यह सब एक लकीर पीटने के लिए पढ़ा-पढ़ाया जाता था। पर बालक रिचे ने उसे गंभीर रूप में लिया। वह कई दिन तक लगातार यही सोचता रहा—क्या हम सच्चे ईसाई नहीं हैं ? क्या हम प्रभु यीशु के उपदेशों को कहते-सुनते भर ही हैं ? उन्हें अपनाते क्यों नहीं ? उन पर चलते क्यों नहीं ?

बालक ने कई दिन तक अपने घर में मांस के लिए छोटे जानवरों और पक्षियों का वध होते देखा था। उनके कष्ट और उत्पीड़न को भी आँसू भरकर देखा था। कोमल भावना वाले बालक ने एक दिन इस दृश्य को देखकर, तड़फते हुए प्राणी के साथ अपनी आत्मीयता जोड़ी तो उसे लगा जैसे उसी को काटा-उधेड़ा जा रहा है। बेचारा घर से बाहर चला गया और सुबक-सुबककर घंटों रोता रहा।

तब वह इतना छोटा था कि अपने मनोभाव घर के लोगों पर ठीक तरह प्रकट नहीं कर सकता था, पर आज वह बड़ा हो चला था, लगभग दस साल का। अपनी संवेदनाओं को प्रकट करने लायक शब्द उसके हाथ आ गए थे। अपनी वेदना उसने दूसरे दिन शिक्षक पादरी के सामने रखी और पूछा, क्या मांस के लिए पशु-पक्षियों की हत्या करना ईसाई धर्म के और प्रभु यीशु की शिक्षाओं के अनुरूप है।

पादरी स्वयं मांस खाते थे। वहाँ घर-घर में मांस खाया जाता था। इसलिए स्पष्ट न कह सके। अगर-मगर के साथ दया और मांसाहार के प्रतिपादन के समर्थन की बात कहने लगे। आत्म्य-शिक्षित बालक के गले सुशिक्षित पादरी की लंबी-चौड़ी व्याख्या तनिक भी न उतरी। उसे लगा, वह बहकाया जा रहा है। यदि दया धर्म का अंग है, तो उसे धर्मात्मा लोग हर प्राणी के लिए

प्रयोग क्यों न करें ? यदि धर्म वास्तविक है तो उसे व्यवहार में क्यों न उतारा जाए ?

बालक रिचे ने निश्चय किया कि वह सच्चा ईसाई बनेगा, प्रभु यीशु का सच्चा अनुयायी। उसने मांस न खाने का निश्चय कर लिया। सामने भोजन आया तो उसने मांस की कटोरी दूर हटा दी। कारण पूछा गया तो उसने यह कहा—"यदि हम धर्म पर आस्था रखते हैं तो हमें उसकी शिक्षाओं को व्यवहार में भी लाना चाहिए। हत्यारे और रक्त-पिपासु लोग धर्मात्मा नहीं हो सकते।" घर के लोगों ने मांस न खाने से शरीर कमजोर हो जाने की दलील दी, तो उसने पूछा—क्या शारीरिक कमजोरी आत्मिक पतन से अधिक घृणित है ? घर वालों का समझाना-बुझाना बेकार चला गया, रिचे ने मांस खाना छोड़ा सो छोड़ ही दिया।

ईसाई धर्म और यीशु की दया, शिक्षा का प्रसंग जहाँ भी चलता, तब रिचे रूखे कंठ और डबडबाई आँखों से यही पूछता—क्या पेट को बूचड़खाना बनाए रखने वालों को धर्म और परमेश्वर की चर्चा करने का अधिकार है ? लोगों के तर्क कुंठित हो जाते और सचाई के आगे सिर नीचा हो जाता।

बालक रिचे जब भी मांस की प्राप्ति के लिए होने वाले उत्पीड़न पर विचार करता, तभी उसकी आत्मा रो पड़ती, इस मनोदशा से उसकी माँ प्रभावित हुई, फिर दोनों बड़ी बहन। तीनों ने मांस छोड़ा। भावनाओं का मोड़ अशुभ या शुभ की दिशा में जिधर भी मुड़ चले उधर बढ़ता ही जाता है। इस प्रकार सारे परिवार ने मांस खाना छोड़ दिया। यह हवा आगे बढ़ी। पड़ोस और परिचय क्षेत्र में यह विचार जड़ जमाने लगा कि सच्चे धर्मात्मा को दयालु होना ही चाहिए। जो दयालु होगा वह मांसाहार कर कैसे सकेगा ?

रिचे बड़े होकर पादरी बने। उन्होंने घर-घर घूमकर सच्ची धार्मिकता का प्रचार किया और मांसाहार से विरति उत्पन्न कराई।

'श्रद्धालु धर्मप्रेमियों की संस्था नामक संगठन ने अलवानिया में अनेको धर्मप्रचारकों तथा विचार-सामग्री के माध्यम से जो लोक-शिक्षण किया, उससे प्रभावित होकर लाखों व्यक्ति यों ने मांसाहार छोड़ा और धार्मिकता अपनाई। रिचे के संप्रदायों को धार्मिक क्षेत्रों में सराहा जाता रहा है।'

❑

सिंक्लेयर स्वस्थ हो गए—कैसे ?

'दि जंगल' और 'आयल' आदि प्रसिद्ध उपन्यासों के रचयिता डॉ० अप्टन सिंक्लेयर अमेरिका के विद्वान लेखक थे। अपना साहित्यिक कार्य वे दिन के १४-१४ घंटे तक करते थे। पर्याप्त विश्राम और जीवन में मनोविनोद का अभाव होने के साथ ही उनकी दिनचर्या भी स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकारक थी।

सिंक्लेयर यद्यपि शराब न पीते, चाय और तंबाकू आदि का प्रयोग न करते थे, पर असंयम, समय पर भोजन न करना, जब करना तो भूख से अधिक कर जाना, मिर्च-मसालों का उपयोग यह आदतें ही कौन सी चाय-तंबाकू के विष से कम थीं। सिंक्लेयर का स्वास्थ्य गिरने लगा। आएदिन जुकाम, खांसी और बुखार। उनकी साहित्यिक गतिविधियाँ ठप पड़ गईं और सामान्य जीवनक्रम भी चलाना कठिन हो गया। आदतें खराब कर लेने पर जो स्वास्थ्य पर दबाव किसी अन्य व्यक्ति पर हो सकता था सिंक्लेयर भी उस कष्ट से कैसे बच पाते?

वे कुछ दिन जी० एच० कैलाग के बेटन क्रीक सैनिटोरियम में रहे, अच्छी-से-अच्छी दवाइयाँ कीं, तत्काल तो कुछ आराम मिलता पर दवाओं की प्रतिक्रिया किसी अन्य रूप में फूट पड़ती। एक तरफ से अच्छे होते और दूसरी ओर नई बीमारी में जकड़ जाते। सिंक्लेयर का जीवन 'आफत का पुतला' बन गया।

एक दिन उनकी एक महिला से भेंट हुई। यह स्त्री पहले गठिया, जुकाम अग्निमांद्य और नाड़ी-विकार से पीड़ित होने के कारण बिलकुल निर्बल और कांतिविहीन थी, पर इस बार जब वह सिंक्लेयर से मिली तो ऐसी स्वस्थ और सौंदर्ययुक्त दिखाई दे रही थी जैसे इस जीवन में कभी रोग का शिकार हुई ही न हो।

सिंक्लेयर ने पूछा—"देवी जी, आपके इस उत्तम स्वास्थ्य का रहस्य क्या है? तो उस भद्र महिला ने बताया—"उपवास। मैंने प्रारंभ में आठ दिन का उपवास किया, प्रारंभ में दो दिन कुछ कठिनाई जान पड़ी, पर तुरंत मुझे पता चला कि मेरे शरीर के दूषित तत्त्व टूट रहे हैं। कई दिन तक तबीअत खराब रही। पसीना, थूक और शरीर से बदबू आती रही और जब उपवास तोड़ा, तो सबसे निचली सतह से रक्त के तेज-कण निकलने लगे, रोग मिटने, भूख बढ़ने लगी। नया खून बढ़ा, शरीर में ताजगी आई। सौंदर्य और स्वास्थ्य उसी की देन है।"

सिंक्लेयर को मानो खोए हुए स्वास्थ्य को पाने का एक नया रास्ता मिल गया। उन्होंने पहला उपवास व्रत ११ दिन का रखा, बारहवें दिन संतरे का रस लेकर उपवास तोड़ा। उसके बाद अट्ठाइस दिन तक दुग्ध-कल्प किया। आहार में जब आए तो बिलकुल हलके अणुओं वाले खाद्य पदार्थ कुछ दिन तक लेते रहे। उपवास के नियमों का कड़ाई से पालन किया।

बारह दिन के उपवास में वजन १७ पौंड घट गया था, चिंतित हो उठे, पर उस प्रयोग के मूर्तिमान लाभ वे देख चुके थे, इसलिए घबराए नहीं। दस दिन के दुग्ध-कल्प में उनका वजन २३ पौंड बढ़ गया और उसके बाद तो उनका शरीर ही चमकने लगा। इससे उन्हें इतनी प्रसन्नता हुई कि कुछ दिन तक अपना सारा ध्यान उपवास द्वारा आरोग्य की उपलब्धि पर केंद्रित रखा। अपने अनुभव बताते हुए वे लिखते हैं—

"उपवास को मैं यौवन बनाए रखने की कुंजी मानता हूँ। प्रकृति की स्वास्थ्य-संरक्षक विधि एकमात्र उपवास है, इस ज्ञान को मैं अपने जीवन की निधि मानता हूँ, मेरा विश्वास है कि छोटे रोग तो उपवास से ऐसे ही ठीक किए जा सकते हैं कि दोबारा होने का डर ही न रहे।"

सिंक्लेयर के अनुभव का लाभ बाद में उनकी धर्मपत्नी ने भी उठाया। वे भी कमजोरी, वजन की कमी व नाड़ी-दौर्बल्य से बचीं। उपवास द्वारा कई महिलाओं ने भी लाभ उठाए।

❑

पीड़ित मानवता की करुणाशील सेवा

ज्येष्ठ का महीना था। दोपहर की कड़कड़ाती हुई धूप अपनी चरम सीमा पर थी। इन्हीं दिनों ईश्वरचंद्र विद्यासागर को बंगाल के कालना गाँव में किसी अति आवश्यक काम से जाना पड़ा।

अभी कुछ ही दूर गए होंगे, एक गरीब आदमी कराहता, हाँफता हुआ रास्ते पर पड़ा दिखाई दिया। उन्होंने देखा कि उसकी गठरी एक तरफ पड़ी हुई है। दूसरी तरफ फटे-पुराने कपड़ों से अपना तन किसी तरह ढके हुए तड़फड़ा रहा है। दीन-हीन नेत्रों से किसी की सहायता के लिए देख रहा है। पर किसका ध्यान उसकी तरफ जाता है ? सभी लोग आते और उसे ऐसी अवस्था में देखकर आँखें फेरते हुए चले जाते। मानो उसे देखा ही नहीं। बेचारा हैजे से बुरी तरह पीड़ित हो चुका था, कपड़े मल-मूत्र में सन चुके थे।

उसे इस स्थिति में देखते ही ईश्वरचंद्र विद्यासागर का दयालु हृदय करुणा से उमड़ पड़ा। काम तो बड़ा जरूरी था और शीघ्र पहुँचना आवश्यक था। पर उससे भी आवश्यक काम यह दिखाई देने लगा। अपने कंधे में लटकता हुआ बैग उतारकर एक तरफ रख दिया। रोगी के पास जाकर उसकी स्थिति को अच्छी तरह

समझा। उस बेचारे की तो दम निकल रही थी। उसके सिर और पीठ पर हाथ फेरा और कुछ पूछा। पर वह कहाँ बोलता? इशारे से पानी माँगा। आशय समझ गए। चलते समय उन्होंने बैग में शीशीयाँ रख ली थीं। तुरंत ही पानी लाए और एक खुराक दवा दी। कपड़े वगैरा कुछ साफ किए। हाथ-पैरों और शरीर में लगा हुआ मल-मूत्र साफ किया और तुरंत ही अपनी पीठ पर लादकर गाँव को चल दिए।

साथ में एक दूसरे अधिकारी गिरीशचंद्र जी भी चुप न रह सके। कुछ तो उन्हें भी करना चाहिए था। सो लोक-लाज वश उन्होंने भी पास ही पड़ी हुई बीमार की गठरी सिर पर रखकर पीछे-पीछे चल दिए। गाँव अभी काफी दूर था। बीच-बीच में श्री गिरीश जी रोगी को ले चलने में सहायता करने की बात पूछते, परंतु विद्यासागर ने यही कहा—"आपका इतना सहयोग भी हमें बहुत साहस दे रहा है। चिंता न करें, हमें कोई कष्ट नहीं है। गाँव तक सुगमता से लिए चलेंगे।"

कालना पहुँचते ही रोगी को तुरंत उन्होंने हॉस्पीटल में भरती कराया। कालना बड़ा गाँव है और अच्छा हॉस्पीटल है, डॉक्टर से तुरंत मिले और रोगी की स्थिति का पूरा-पूरा विवरण दिया। वहाँ कुछ समय तक रुककर रोगी की सेवा-सुश्रूषा में स्वयं भी हाथ बटाते रहे। जब रोगी पूरी तरह अच्छा हो गया तो उसे कुछ रुपए देकर विदा किया।

❑

सहकारिता ने गवर्नर बनाया

आगे पढ़ने की बहुत इच्छा थी, पर करते क्या, पास में तो गुजारे का भी प्रबंध नहीं था। युवक ने सोचा बाहर चलना चाहिए, आजीविका और पढ़ाई के खरच का प्रबंध आप करके पढ़ना अवश्य है।

ऐसा निश्चय करके उसने अभिभावकों से किसी प्रकार बीस रुपए और किराये का प्रबंध करा लिया और बंबई चला आया।

उन दिनों बंबई इतनी महँगी नहीं थी जितनी आज है। पाँच रुपए मासिक पर मकान किराये में मिल जाता था। पर जिसके पास आदि से अंत तक २० रुपए ही थे, उसके लिए पाँच ही पहाड़ के बराबर थे। अब क्या किया जाए? यदि ५ रुपए मासिक किराये का कमरा लेता हूँ तो २० रुपए कुल ४ महीने के किराये भर के लिए हैं? इस विचार-चिंतन के बीच युवक को एक उपाय सूझा सहयोग और सहकारिता का जीवन।

एक सींक बुहारी नहीं कर सकती, अकेला व्यक्ति सेना नहीं खड़ा कर सकता। एक लड़के के लिए स्कूल खुले तो संसार की अधिकांश धनराशि पढ़ाई में ही चली जाए। इसी प्रकार की दिक्कतों से बचने के लिए सहकारिता एक देवता है, जिसमें छोटी-छोटी शक्तियाँ एक करके अनेक लोग महत्त्वपूर्ण साधन-सुविधाएँ जुटा लेते हैं, छोटी शक्तियाँ मिलकर बड़े लाभ अर्जित कर ले जाती हैं। जिस समाज, जिन देशों में सहयोग और सहकारिता का भाव जितना अधिक होगा, वह देश उतना ही सुखी, सशक्त और समुन्नत होगा।

यह उदाहरण युवक का प्रकाश बन गया। उसने अपनी तरह के ४ और निर्धन विद्यार्थी खोज लिए और एक कमरा ५ रुपये मासिक किराये पर ले लिया। प्रत्येक लड़के को अब १ रुपये मासिक देना होगा। इस तरह जो २० रुपये केवल ५ माह के किराये भर के लिए पर्याप्त होते। युवक की सूझ-बूझ ने यह सिद्ध कर दिया कि यदि उन्हें किराये में ही खरच किया जाता तो ५ गुना अधिक समय अर्थात २० महीने के लिए पर्याप्त होते।

फिर सामने आई भोजन की समस्या। यदि अकेले ही भोजन पकाते तो २० रु० एक ही महीने के लिए होते। लकड़ी, कोयले, बरतन एक व्यक्ति के लिए भी उतने ही चाहिए, जितने में ५ व्यक्ति आराम से खाना बनाकर खा लेते। व्यक्तिवाद सामूहिकता से हर दृष्टि से पीछे है। सामूहिक परिवार आर्थिक और भावनात्मक दृष्टि से भी लाभदायक है। उन्होंने इस वैज्ञानिक लाभ के कारण को प्रतिष्ठापित किया।

युवक ने इस समस्या का हल भी ऐसे ही निकाला। एक ढाबा ढूँढ़ लिया, जिसमें कई लोगों का खाना एक साथ पकता था। यह भी उसमें सम्मिलित हो गए, मासिक खरच कुल ५ रुपया आया। जो पैसे १ महीने को खाना देने भर के लिए थे, अब उनसे कम से कम ४ माह की निश्‍चितता हो गई।

अब रही बात पढ़ने की सो वह एक स्कूल में भरती हो गया। किताबों का खरच था, उसे भी सामूहिकता के स्वरूप पीटिट नामक पुस्तकालय ने कर दिया। अनेक लोगों के सहयोग और चंदे से बना पुस्तकालय न होता तो उससे इस युवक की तरह सैकड़ों-हजारों लोगों की ज्ञानार्जन की पिपासाएँ अतृप्त ही रह गई होतीं। एक रुपए की सदस्यता से पढ़ी इस स्कूल की पुस्तकें काम देती गईं। आप विश्वास न करेंगे, उसने इसी तरह एडवोकेट बनने तक की शिक्षा पाई। इस बीच वह कई स्थानों पर लिखने का काम करता रहा, जिससे वह कपड़े-लत्ते शाक-भाजी का खरच निकालता रहा। इस युवक का नाम था कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी (के० एम० मुंशी) जो एक समय उत्तर प्रदेश के गवर्नर पद तक पहुँचे और जो देश के जाने-माने साहित्यकार एवं राजनीतिक नेता थे।

❑

बुरी स्मृतियाँ भुला ही दी जाएँ

दो भाई थे। परस्पर बड़े ही स्नेह तथा सद्‌भावपूर्वक रहते थे। बड़े भाई कोई वस्तु लाते तो भाई तथा उसके परिवार के लिए भी अवश्य ही लाते, छोटा भाई भी सदा उनको आदर तथा सम्मान की दृष्टि से देखता।

पर एक दिन किसी बात पर दोनों में कहा-सुनी हो गई। बात बढ़ गई और छोटे भाई ने बड़े भाई के प्रति अपशब्द कह दिए। बस फिर क्या था? दोनों के बीच दरार पड़ ही तो गई। उस दिन से ही दोनों अलग-अलग रहने लगे और कोई किसी से नहीं बोला।

कई वर्ष बीत गए। मार्ग में आमने-सामने भी पड़ जाते तो कतराकर दृष्टि बचा जाते, छोटे भाई की कन्या का विवाह आया। उसने सोचा बड़े अंत में बड़े ही हैं, जाकर मना लाना चाहिए।

वह बड़े भाई के पास गया पैरों पड़कर पिछली बातों के लिए क्षमा याचना की। बोला—"अब चलिए और विवाह कार्य सँभालिए।"

पर बड़ा भाई न पसीजा चलने से साफ मना कर दिया। छोटे भाई को दु:ख हुआ। अब वह इसी चिंता में रहने लगा कि कैसे भाई को मनाकर लाया जाए? इधर विवाह के भी बहुत ही थोड़े दिन रह गए थे। संबंधी आने लगे थे।

किसी ने कहा—उसका बड़ा भाई एक संत के पास नित्य जाता है और उनका कहना भी मानता है। छोटा भाई उन संत के पास पहुँचा और पिछली सारी बात बताते हुए अपनी त्रुटि के लिए क्षमा-याचना की तथा गहरा पश्चात्ताप व्यक्त किया और प्रार्थना की—"आप किसी भी प्रकार मेरे भाई को मेरे यहाँ आने के लिए तैयार कर दें।"

दूसरे दिन जब बड़ा भाई सत्संग में गया तो संत ने पूछा—"क्यों तुम्हारे छोटे भाई के यहाँ कन्या का विवाह है? तुम क्या-क्या काम सँभाल रहे हो?"

बड़ा भाई बोला—"मैं विवाह में सम्मिलित नहीं हो रहा। कुछ वर्ष पूर्व मेरे छोटे भाई ने मुझे ऐसे कड़वे वचन कहे थे, जो आज भी मेरे हृदय में काँटे की तरह खटक रहे हैं।" संत जी ने कहा—"सुन! जब सत्संग समाप्त हो जाए तो जरा मुझसे मिलते जाना।" सत्संग समाप्त होने पर वह संत के पास पहँचा, उन्होंने पूछा—"मैंने गत रविवार को जो प्रवचन दिया था, उसमें क्या बतलाया था?"

बड़ा भाई मौन? कहा—कुछ याद नहीं पड़ता, कौन सा विषय था?

संत ने कहा—"अच्छी तरह याद करके बताओ।"

पर प्रयत्न करने पर उसे वह विषय याद न आया।

संत बोले "देखो! मेरी बताई हुई अच्छी बात तो तुम्हें आठ दिन भी याद न रहीं और छोटे भाई के कड़वे बोल जो एक वर्ष पहले कहे गए थे, वे तुम्हें अभी हृदय में चुभ रहे हैं। जब तुम अच्छी बातों को याद ही नहीं रख सकते, तब उन्हें जीवन में कैसे उतारोगे और जब जीवन नहीं सुधारा, तब सत्संग में आने का लाभ ही क्या रहा? अत: कल से यहाँ मत आया करो।"

अब बड़े भाई की आँखें खुलीं। अब उसने आत्मचिंतन किया और देखा कि मैं वास्तव में ही गलत मार्ग पर हूँ। छोटों की बुराई भूल ही जाना चाहिए। इसी में बड़प्पन है।

उसने संत के चरणों में सिर नवाते हुए कहा—"मैं समझ गया गुरुदेव! अभी छोटे भाई के पास जाता हूँ, आज मैंने अपना गंतव्य पा लिया।"

❑

सादगी के दो नमूने

अपने भू० पू० राष्ट्रपति—स्वर्गीय राजेंद्र प्रसाद जी का जीवन सादगी का जीता-जागता उदाहरण कहा जा सकता है। प्रस्तुत घटना सन् १९६५ की है।

राजेंद्र बाबू अगले होने वाले कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष थे। वे इलाहाबाद स्टेशन पर उतरे। किसी आवश्यक कार्य से आए थे। 'लीडर' अखबार में उन्हें अपना एक वक्तव्य भी देना था, उन दिनों उसके संपादक थे सी० वाई० चिंतामणि। अच्छा परिचय था उनसे राजेंद्र बाबू का। सोचा क्यों न वक्तत्व स्वयं ही कार्यालय जाकर दे आएँ। सीधे चल पड़े, वह भी पैदल।

सरदी के दिन थे। हलकी बूँदाबाँदी हो रही थी। पहुँचते-पहुँचते कपड़े थोड़े गीले हो गए।

जाकर चपरासी को अपना परिचय पत्र दिया। उसने ले जाकर संपादक महोदय की टेबल पर रख दिया।

संपादक जी उस समय कुछ लिखने में व्यस्त थे, उसने बीच में बोलना उचित न समझा। बाहर आकर कह दिया कि—"साहब अभी व्यस्त हैं। देर लगेगी।"

थोड़ी देर बाद जब चिंतामणि जी ने दृष्टि उठाई काम पर से, तब अनायास ही कार्ड दिखाई दे गया।

घंटी बजाई और चपरासी को बुलाकर पूछा " कार्ड कौन लाया था ?" चपरासी ने उत्तर दिया, "वह आदमी बाहर खड़ा है।" वे शीघ्रता से बाहर आए। पर वहाँ कोई न था, फिर चपरासी से पूछा—"वे सज्जन कहाँ हैं ?" तब चपरासी ने उधर की ओर इशारा कर दिया, जहाँ वे अपने गीले कपड़े सुखा रहे थे। श्री चिंतामणि दौड़कर, उनके पास गए और क्षमा याचना की।

पर वहाँ कहाँ कोई बात थी उनके मन में। हँसकर कहने लगे—"मैंने सोचा इतनी देर में यही काम कर डालूँ। कपड़े सुखाना भी तो जरूरी थे।"

इसी प्रकार एक बार विश्वविख्यात वैज्ञानिक एवं गणितज्ञ श्री आइंस्टीन बेलजियम की महारानी के निमंत्रण पर उनके यहाँ जा रहे थे, महारानी ने अपने यहाँ के उच्च अधिकारियों को लेने स्टेशन भेजा, किंतु उनकी वेशभूषा इतनी साधारण थी कि उनमें से कोई भी उन्हें पहचान न सका। महान मनीषी कब इस बात की परवाह करते हैं कि लिबास या रहन-सहन के उपकरण भड़कीले तथा आकर्षक हैं या नहीं, बल्कि उन्हें वे अनुपयोगी तथा अनावश्यक ही मानते हैं। 'सादा जीवन—उच्च विचार' ही उनका जीवन आदर्श होता है।

अधिकारीगण निराश होकर लौट गए। इधर विज्ञानाचार्य महोदय उतरे और अपना बैग लिए हुए महल के द्वार पर जा पहुँचे। महारानी समझ रही थीं कि वे आए ही नहीं। इस प्रकार उनके पहुँचने पर उन्होंने बड़ा खेद प्रगट किया और कहा—"आपको पैदल ही आना पड़ा। इसका मुझे बहुत ही दुःख है।"

किंतु आंइस्टीन महोदय मुस्कराते हुए कहने लगे—"आप इस जरा सी बात के लिए दुःख न करें, मुझे चलना बहुत अच्छा लगता है।"

❑

साहस के रास्ते हजार

भाई परमानंद क्रांतिकारियों में अप्रितम साहस के लिए प्रसिद्ध थे। कैसी भी संकटपूर्ण घड़ी में भी उन्होंने भयभीत होना नहीं सीखा था, इसीलिए कई बार वह ऐसे काम कर लाते थे, जो और कोई भी बुद्धिमान क्रांतिकारी नहीं कर पाता था। साहस को इसीलिए

तो मनुष्य जीवन की सबसे बड़ी योग्यता कहा गया है। हिम्मत न हो तो बड़ी योजनाएँ धरी ही रह जाती हैं। पर साहसी व्यक्ति रेत में भी फूल उगा लेते हैं।

बम बनाने की योजना बन गई। विस्फोटक आदि सब सामान तो जुटा लिया गया, पर बमों के लिए लोहे के खोल (शेल) कहाँ से आएँ, यह एक समस्या थी। ऐसी घड़ी में भाई परमानंद को याद किया गया।

बड़ी देर तक विचार करने के बाद उन्होंने एक योजना बना ही डाली। काम था जो जोखिम का, पर ''हिम्मते मरदाँ मददे खुदा'' वाली कहावत सामने थी, भाई परमानंद ने अमरसिंह को साथ लिया और वहाँ से चल पड़े।

उन्होंने अमरसिंह को सारी योजना समझाई। अमरसिंह को एकाएक तो विश्वास नहीं हुआ कि एक अँगरेज को चकमा देकर बमों के खोल कैसे बनवाए जा सकते हैं, पर वह परमानंद की हिम्मत को जानते थे, इसलिए साथ-साथ जीने-मरने के लिए तैयार हो गए। अगले ही क्षण वे एक लोहा फैक्टरी के सामने खड़े हुए थे।

सब कुछ स्वाभाविक तरीके से ही हो सकता था। बातचीत से लेकर हाव-भाव तक नकली बात तभी चल सकती थी जब वह पूरी हिम्मत के साथ बयान की गई हो। थोड़ा भी सकपका जाने या अस्वाभाविक प्रतीत होने पर तुरंत गिरफ्तार होने का भय था, सो तो था ही, एक बड़ी भारी योजना के विफल हो जाने का अपयश भी था।

परमानंद भाई नकली माली और अमरसिंह मजदूर बनकर गए थे। अँगरेज मैनेजर से बोले—साहब, सर सुंदरसिंह मजीठिया के बगीचे को सजाने के लिए लोहे के खंभे लगाए गए हैं। आपने देखा ही होगा, हमारे साहब की इच्छा है कि उनके ऊपर लोहे के गुंबज लगाए जाएँ ताकि शोभा और बढ़े?

सर सुंदरसिंह मजीठिया हिंदुस्तानी पर अँगरेजी 'सर' की उपाधि प्राप्त—साहब बहादुर, भला इनकार कैसे करते? बोले—कितने खोल चाहिए? हिसाब लगाने में जरा भी कम अकली से अँगरेज मैनेजर को संदेह हो सकता था। साहस की यही तो पहचान है कि हृदय और मुख में जरा शिकन न आए, भय पास न फटके।

यही दो हजार आवश्यक होंगे, नकली माली बने परमानंद ने कहा—अफसर थोड़ा चौंका तो पर परमानंद के साहस ने सब कुछ ढाँप लिया। आर्डर तय हो गया। एक सप्ताह में खोल बन जाने की साई तय हो गई।

ठीक एक सप्ताह बाद उसी तरह बमों के खोल ले आए और मैनेजर को कुछ भी भान न हुआ। वह तो कभी पता न चलता यदि कुछ क्रांतिकारी बंदी न बना लिए जाते और उनके साथ की बात का भंडाफोड़ न हो जाता।

मुकदमा चला। कचहरी में अँगरेज मैनेजर भी उपस्थित हुआ। उसने अपनी भूल तो स्वीकार कर ली, पर यह कहे बिना वह भी न रहा—परमानंद सचमुच गजब का साहसी है, मुझे भी धोखा दे गया।

❑

वे, जिन्होंने मोह को जीता

गुरु गोविंद सिंह उन दिनों चमकौर के किले में रहकर, मुगलों से युद्ध कर रहे थे। मुखवाल से जाते समय उनकी माता और दो नन्हे बच्चे फतहसिंह और जोरावरसिंह बिछुड़ गए थे। लेकिन गुरु गोविंदसिंह को काम में व्यस्त होने के कारण उनको खोजने का समय न मिल पाया था। वे अपने बड़े लड़कों अजीतसिंह और जुझारसिंह के साथ चमकौर के किले में रहकर, आगे की योजनाएँ बनाने और कार्यान्वित करने में व्यस्त थे। तभी एक दिन कुछ दूत

उनके पास संदेश लेकर आए। वे मुखवाल और आनंदगढ़ की तरफ से ही आए थे।

गुरु गोविंदसिंह ने दूतों का स्वागत किया और हँसकर पूछा—"बताओ भाई, हमें छोड़कर गए हुए सिखों और बिछुड़ी हुई माता एवं दोनों कुमारों का कोई समाचार है और अगर शत्रुओं का भी कोई समाचार हो तो बतलाओ।" दूतों ने कहा "गुरुजी! जो सिख मुखवाल से आपका साथ छोड़कर चले गए थे, गाँव पहुँचने पर उनके परिवार वालों तक ने उन्हें धिक्कार कर विश्वासघाती कहा। उनको अपनी गलती अनुभव हुई और अब वे सब आपसे क्षमा माँगने के लिए इधर चल पड़े हैं।" गुरु गोविंदसिंह ने हर्षपूर्वक कहा—"यह तो बड़ा शुभ समाचार है, उनको अब भूला नहीं कहा जा सकता है और आगे के समाचार बतलाओ।"

दूतों ने आगे कहा—"यह जानकर कि आप चमकौर में विराजमान हैं, मुगलों की एक बड़ी भारी सेना चमकौर पर आक्रमण करने आ रही है।" गुरु गोविंदसिंह ने कहा—"यह तो और भी अच्छा समाचार है। धर्मयुद्ध तो तब तक चलता ही रहना चाहिए, जब तक अधर्म का नाश न हो जाए।" आगे बतलाओ, माता और कुमारों का क्या समाचार है? क्या कुमारों या माता ने शत्रुओं की शरण ले ली अथवा प्राणों के मोह में धर्म मार्ग से विचलित हो गए? दूत तत्काल बोल उठा—"महाराज ऐसा न कहें। कुमारों ने धर्म के नाम पर बलिदान दे दिया है। कहकर दूत रोने लगे।" गुरु गोविंद सिंह ने उत्सुकतापूर्वक कहा—"अरे भाई, तुम्हें ऐसा शुभ समाचार तो हँसते हुए उत्साहपूर्वक सुनाना चाहिए। जल्दी बताओ, उन सिंह संतानों ने कहाँ और किस प्रकार धर्म पर अपना बलिदान दे दिया?"

दूतों ने बतलाया—"गुरुजी! मुखवाल से बिछुड़कर माता और कुमार गंगू रसोइए के साथ उसके घर चले गए, किंतु गंगू ने

माताजी के साथ विश्वाघात करके कुमारों को गिरफ्तार कराकर, सरहिंद के नवाब के हवाले कर दिया। सरहिंद के नवाब ने उनसे कहा—बच्चो, अगर तुम मुसलमान हो जाओ तो तुम्हारी जान बख्श दी जाएगी, शाहजादियों से तुम्हारी शादी करा दी जाएगी, और एक बहुत बड़ी जागीर इनाम में दे दी जाएगी, किंतु वे दोनों कुमार न तो मौत से डरे और न लालच में आए। उन्होंने नवाब से साफ-साफ कह दिया कि धर्म की महत्ता एक प्राण क्या करोड़ों प्राणों से भी अधिक है और न धर्म बिकने वाली चीज है, जो आप लोभ देकर खरीदना चाहते हैं। आप बेशक हमारे प्राण ले लीजिए। लेकिन हम अपना धर्म नहीं छोड़ सकते। इस पर नबाव ने सरदारों को बच्चों को मार डालने का हुक्म दिया, लेकिन वे तैयार न हुए। तब नवाब ने उन बच्चों को किले की दीवार में जिंदा चुनवा दिया, लेकिन वे दोनों कुमार अंत तक हँसते और धर्म की जय बोलते रहे। माता ने यह समाचार सुना तो छत से कूदकर प्राण दे दिए।

गुरु गोविंदसिंह खुशी से उछल पड़े, फतह सिंह और जोरावर सिंह सच्चे धर्मवीर थे। हम सबको उनसे शिक्षा लेनी चाहिए, इसी प्रकार निर्भय बलिदान देकर ही धर्म की रक्षा की जाती है, धन्य हो वीरो! तुमने धर्म की साख बढ़ाई।

❑

अखंड ब्रह्मचर्य और उसका प्रभाव

सारे देश में भारतीय धर्म व संस्कृति के व्यापक प्रचार, अनेकों वैदिक संस्थाओं की स्थापना, शास्त्रार्थों में विजय और वेदों के भाष्य आदि अनेक अलौकिक सफलताओं से आश्चर्यचकित एक सज्जन महर्षि दयानंद के पास गए, पूछा—"भगवन, आपके शरीर में इतनी शक्ति कहाँ से आती है? आहार तो आपका बहुत ही कम है।"

महर्षि दयानंद ने सहज भाव से उत्तर दिया—"भाई संयम और ब्रह्मचर्य से कुछ भी असंभव नहीं। आप नहीं जानते, जो व्यक्ति आजीवन ब्रह्मचर्य से रहता है, उसमें सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वस्तु के परखने की बुद्धि आ जाती है। उसमें ऐसी शक्ति आ जाती है, जिससे वह बड़ा काम कर दिखाए। मैं जो कुछ कर सका अखंड ब्रह्मचर्य की कृपा का ही फल है।"

"क्षमा करें महात्मन! एक बात पूछने की इच्छा हो रही है। आज्ञा हो तो प्रश्न करूँ?" उस व्यक्ति ने बड़े संकोच से कहा।

इस पर महर्षि ऐसे हँस पड़े कि जैसे वे पहले ही जान गए हों, यह व्यक्ति क्या पूछना चाहता है? उन्होंने उसकी झिझक मिटाते हुए कहा—"तुम जो कुछ भी पूछना चाहो, नि:संकोच पूछ सकते हो।"

उस व्यक्ति ने पूछा—"महात्मन! कभी ऐसा भी समय आया है क्या? जब आपने भी काम पीड़ा अनुभव की हो।

महर्षि दयानंद ने एक क्षण के लिए नेत्र बंद किए फिर कहा—"मेरे मन में आज तक कभी भी काम विकार नहीं आया। यदि मेरे पास कभी ऐसे विचार आए भी तो वह शरीर में प्रवेश नहीं कर सके। मुझे अपने कामों से अवकाश ही कहाँ मिलता है, जो यह सब सोचने का अवसर आए।"

स्वप्न में तो यह संभव हो सकता है? उस व्यक्ति ने इसी तारतम्य में पूछा—"क्या कभी रात्रि में भी सोते समय आपके मन में काम विकार नहीं आया?"

महर्षि ने उसी गंभीरता के साथ बताया—जब कामुक विचारों को शरीर में प्रवेश करने का समय नहीं मिला, तो वे क्रीड़ा कहाँ से करते? जहाँ तक मुझे स्मरण है, इस शरीर से शुक्र की एक बूँद भी बाहर नहीं गई है। यह सुनकर गोष्ठी में उपस्थित सभी व्यक्ति अवाक रह गए।

जिज्ञासु उस रात्रि को स्वामी जी के पास ही ठहर गया। उनका नियम था, वे प्रतिदिन प्रातःकाल ताजे जल से ही स्नान करते थे। उनका एक सेवक था जो प्रतिदिन स्नान के लिए ताजा पानी कुँए से लाता था। उस दिन आलस्यवश वह एक ही बाल्टी पानी लाया और उसे शाम के रखे वासी जल में मिलाकर इस तरह कर दिया कि स्वामी जी को पता न चले कि यह पानी ताजा नहीं।

नियमानुसार स्वामी जी जैसे ही स्नान के लिए आए और कुल्ला करने के लिए मुँह में पानी भरा, वे तुरंत समझ गए। सेवक को बुलाकर पूछा, क्यों भाई! आज बासी पानी और ताजे पानी में मिलावट क्यों कर दी?

सेवक घबराया हुआ और दो बाल्टी ताजा पानी ले आया। यह खबर उस व्यक्ति को लगी तो उसे विश्वास हो गया—जो बातें साधारण मनुष्य के लिए चमत्कार लगती हैं, अखंड ब्रह्मचर्य से वही बातें सामान्य हो जाती हैं।

❑

धैर्य हो तो नेपोलियन जैसा

सन् १८०७ की बात है। नेपोलियन बोनापार्ट की सेनाएँ नदी के किनारे पड़ी थी। दुश्मन ने उसे चारों तरफ ऐसे घेर रखा था जैसे पिंजड़े में शेर। दाहिनी तरफ आस्ट्रियन फौजें थीं, पीछे जर्मन। रूस की विशाल सेना आगे अड़ी-खड़ी थी। नेपोलियन के लिए फ्रांस से संबंध बनाए रखना भी कठिन हो गया।

यह स्थिति ऐसी ही थी जैसे कोई व्यक्ति स्वयं तो बीमार हो पत्नी, बच्चे भी बीमार हो जाएँ। मकान गिर जाए और नौकरी से भी एकाएक नोटिस मिल जाए। घात-प्रतिघात चारों ओर से आते हैं। मुसीबत को अकेले आना कभी पसंद नहीं, लालची मेहमान

की तरह वह बाल-बच्चे लेकर चलती है। संकटों की सेना देखते ही सामान्य लोग बुरी तरह घबरा उठते, नियंत्रण खो बैठते और कुछ का कुछ कर डालते हैं। आपत्ति काल में धीरज और धर्म को परखकर चलने की चेतावनी इसीलिए दी गई है कि मनुष्य इतना उस समय न घबरा जाए कि आई मुसीबत प्राणघातक बन जाए।

नेपोलियन बोनापार्ट—धैर्य का पुतला, उसने इस सीख को सार्थक कर यह दिखा दिया कि घोर आपत्ति में भी मनुष्य अपना मानसिक संतुलन बनाए रखे तो वह भीषण संकटों को भी देखते-देखते पार कर सकता है।

नेपोलियन ने घबराती फौज को विश्राम की आज्ञा दे दी। उच्च सेनाधिकारी हैरान थे, कहीं नेपोलियन का मस्तिष्क तो खराब नहीं हो गया। उनका यह विश्वास बढ़ता ही गया, जब नेपोलियन को आगे और भी विलक्षण कार्य करते देखा। जब उसकी सेनाएँ चारों ओर से घिरी थीं। उसने नहर खुदवानी प्रारंभ करा दी। पोलेंड और प्रसिया को जोड़ने वाली सड़कों का निर्माण इसी समय हुआ। फ्रेंच कॉलेज की स्थापना और उसका प्रबंध नेपोलियन स्वयं करता था। फ्रांस के सारे समाचार इन दिनों नेपोलियन के साहसप्रद लेखों से भरे होते थे। फ्रांस, इटली और स्पेन तक से सैनिक इसी अवधि में भरे गए। नेपोलियन ने इस अवधि में जितने गिरजों का निर्माण कराया उतना वह शांति काल में भी नहीं करा सका। लोग कहते थे नेपोलियन के साथ कुछ प्रेत रहते हैं, यही सब इतना काम करते हैं, पर सही बात तो यह है कि नेपोलियन यह सब काम खुद ही करता था। उसका शरीर एक स्थान पर रहता था पर मन दुश्मन पर चौकसी भी रखता था और पूर्ण निर्भीक भाव से इन प्रबंधों में भी जुटा रहता था।

नेपोलियन को इतना क्रियाशील देखकर दुश्मन सेनाओं के सेनापतियों ने समझा कि नेपोलियन की सेना अब आक्रमण करेगी, अब आक्रमण करेगी। वे बेचारे चैन से नहीं सोये, दिन-रात हरकत

करते रहे, इधर से उधर मोर्चे जमाते रहे। डेढ़-दो महीनों में सारी सेनाएँ थककर चूर हो गईं। नेपोलियन ने इस बीच सेना के लिए भरपूर रसद, वस्त्र, जूते और हथियार भरकर रख लिए।

तब तक बरसात आ गई। दुश्मन सेनाएँ जो नेपोलियन की उस अपूर्व क्रियाशीलता से भयभीत होकर अब तक थक चुकी थीं, विश्राम करने लगीं। उन्होंने कल्पना भी न की थी कि वर्षा ऋतु में भी कोई आक्रमण कर सकता है।

आपत्तिकाल में धैर्य इसलिए आवश्यक है कि उस घड़ी में सही बात सूझती है, कोई न कोई प्रकाश का ऐसा द्वार मिल जाता है, जो न केवल संकट से पार कर देता है वरन कई सफलताओं के रहस्य भी खोल जाता है।

वर्षा के दिन जब सारी सेनाएँ विश्राम कर रही थीं, नेपोलियन ने तीनों तरफ से आक्रमण कर दिया और दुश्मन की फौजों को मार भगाया। बहुत सा शस्त्र और साज-सामान उसके हाथ लगा, जिससे उसकी स्थिति और भी मजबूत हो गई।

❑

यह विनम्रता

बात उन दिनों की है जब महामना मदनमोहन मालवीय जी जीवित थे। विश्वविद्यालय के कुछ छात्र एक दिन नौकाविहार कर रहे थे, उनकी कुछ असावधानी के कारण नाव को काफी क्षति पहुँच गई। अतः वह इस स्थिति में न रही कि उससे काम लिया जा सके।

बेचारा मल्लाह उसी के सहारे जीविकोपार्जन करता। चार बच्चे, पत्नी और स्वयं इस प्रकार कुल छह आदमियों का पेट पालन कर रहा था। छात्रों की इस उच्छृंखलता पर मल्लाह को बहुत गुस्सा आया। आना भी स्वाभाविक ही था। अब वह किसके सहारे बच्चों का पालन-पोषण करता?

अपने आवेश को वह रोक न सका। तरह-तरह की भली-बुरी गालियाँ बकता हुआ मालवीय जी के यहाँ चल दिया।

संयोगवश उस दिन मालवीय जी अपने निवास स्थान पर ही थे। कोई आवश्यक मीटिंग चल रही थी। विश्वविद्यालय के सभी वरिष्ठ अधिकारी और काशी नगरी के प्राय: गण्यमान्य व्यक्ति वहाँ उपस्थित थे।

मल्लाह गालियाँ बड़बड़ाता हुआ वहाँ भी पहुँच गया, जहाँ बैठक चल रही थी। रास्ते के कई लोगों ने जो उसकी गालियाँ सुन रहे थे, उसे वहाँ जाने से रोकना चाहा; परंतु असफल रहे। वह न केवल छात्रों को ही गालियाँ देता वरन मालवीय जी को भी भला-बुरा कह रहा था। उसका इस तरह का बड़बड़ाना सुनकर सब लोगों का ध्यान उधर आकर्षित हो गया। मीटिंग में चलती हुई बातों का क्रम भंग हो गया। उसका चेहरा यह स्पष्ट बतला रहा था कि किसी कारणवश बेतरह क्रुद्ध और दु:खित है। मालवीय जी ने भी उसे ध्यानपूर्वक देखा और उसके आंतरिक कष्ट को समझा।

अपने स्थान से वे सरल स्वभाव से उठे और जाकर विनम्रता से बोले—"भाई! लगता है जाने-अनजाने में हमसे कोई गलती हो गई है। कृपया अपनी तकलीफ बतलावें। जब तक अपने कष्ट को बतलावेंगे नहीं, हम उसे कैसे समझ सकेंगे?

मल्लाह को यह आशा न थी कि उसकी व्यथा इतनी सहानुभूति-पूर्वक सुनने को कोई तैयार होगा। उसका क्रोध शांत हो गया तथा अपने ही अभद्र व्यवहार पर मन ही मन पश्चात्ताप करने लगा और लज्जित भी होने लगा। उसने सारी घटना बताई और अपनी अशिष्टता के लिए क्षमा माँगने लगा।

मालवीय जी ने कहा—"कोई बात नहीं लड़कों से जो आपकी क्षति हुई है, उसे पूरा कराया जाएगा, पर इतना आपको भी भविष्य के लिए ध्यान रखा जाना चाहिए कि किसी भी प्रिय-अप्रिय घटना पर इतना जल्दी अधिक मात्रा में क्रुद्ध नहीं हो जाना चाहिए। पहली

गलती तो विद्यार्थियों ने की और दूसरी आप कर रहे हैं। गलती का प्रतिकार गलती से नहीं किया जाता, आप संतोषपूर्वक अपने घर जावें। आपकी नाव की मरम्मत हो जाएगी।"

मल्लाह अपने घर चला गया। उपस्थित सभी लोग मालवीय जी की शिष्टता, विनम्रता और सहनशीलता को देखकर आश्चर्यचकित रह गए। उन्होंने लोगों से कहा—"भाई! नासमझ लोगों से निपट लेने का इससे सुंदर तरीका और कोई नहीं। यदि हम भी वैसी ही गलती करें और मामूलीसी बात पर उलझ जाएँ तो फिर हममें और उनमें अंतर ही क्या रह जाएगा? सभी लोगों ने बात की वास्तविकता को हृदय से स्वीकार किया और इस घटना से बहुत बड़ी शिक्षा ग्रहण की।"

बाद में मालवीय जी के आदेशानुसार उन लड़कों के दंड-स्वरूप उस नाव की पुनः मरम्मत करवा दी।

❑

संपत्ति में परिवार ही नहीं समाज भी हिस्सेदार

प्रसिद्ध साहित्यकार एवं दैनिक 'मराठा' के संपादक आचार्य प्रहलाद केशव अत्रे अपने पीछे एक वसीयत लिख गए। अपनी लाखों रुपए की संपत्ति के सही उपयोग की इच्छा रखने वाले अत्रे काफी दिनों से यह विचार कर रहे थे। परिवार के उत्तराधिकारी सदस्यों को तो अपनी संपत्ति का वही भाग देना चाहिए, जो उनके लिए आवश्यक हो। जो संपत्ति बिना परिश्रम के प्राप्त हो जाती है, जिसमें पसीना नहीं बहाना पड़ता, उसके खरच के समय भी कोई विवेकशीलता से काम नहीं लेता और थोड़े समय में ही लाखों की संपत्ति चौपट कर दी जाती है।

आचार्य अत्रे का हृदय विशाल था और दृष्टिकोण विस्तृत। उनका परिवार केवल भाई, भतीजों और पत्नी तक ही सीमित न था। वह तो संपूर्ण धरा को एक कुटुंब मानते थे। अतः उस कुटुंब

के सदस्यों की सहायता करना प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक कर्त्तव्य होना चाहिए। इसी भावना ने उन्हें विवश किया कि जीवन भर की जुड़ी हुई कमाई केवल अपने ही कहे जाने वाले पारिवारिक सदस्यों पर न खरच की जाए वरन उसका बहुत बड़ा भाग उन लोगों पर खरच करना चाहिए, जिन्हें सचमुच आवश्यकता है।

आचार्य ने अपनी वसीयत में स्पष्ट लिखा है कि मुझे कोई भी पैतृक संपत्ति प्राप्त नहीं हुई थी। मैंने अपने परिश्रम से ही सारी संपत्ति अर्जित की है, जिस पर मेरा अधिकार है। मैंने जो प्राईवेट लिमिटेड कंपनी बनाई है, उनमें किसी का नाम नहीं है। अतः मैं अपनी संपत्ति महाराष्ट्र की जनता को सौंपता हूँ।

इस प्रकार आचार्य अत्रे ने महाराष्ट्र की जनता हेतु लगभग पचास लाख रुपए का दान दे दिया है और श्री एस० ए० डांगे, श्री डी० एस० देसाई, बैंकिंग विशेषज्ञ श्री वी० पी० वरद्रे तथा अपने निजी मित्र राव साहब कलके को ट्रस्टी बनाया गया है। वसीयत में उन्होंने यह भी इच्छा प्रकट की कि 'मराठा' और 'साज मराठा' का एक कर्मचारी भी ट्रस्टी रखा जाए, जिसका सेवा काल दस साल से कम न हो।

श्री अत्रे ने वसीयत में पत्नी को केवल पाँच सौ रुपए मासिक और तीन नौकर रखने की सुविधा दी है। भाई को कुछ रुपए प्रतिमास तथा बहन को भी मासिक वृत्ति देने की व्यवस्था की गई है। उन्होंने अपनी समृद्ध पुत्रियों को कुछ भी नहीं दिया है।

उनके निवास स्थान 'शिव शक्ति' के केवल एक भाग में रहने के लिए पत्नी को अधिकार दिया है। कुछ भाग को अतिथि-गृह बनाया जाएगा और 'सुभाष हाल' को सांस्कृतिक कार्यक्रमों के लिए सुरक्षित रखा जाएगा। ट्रस्टीज ने यह अनुरोध किया है कि यदि संभव हो तो एक अँगरेजी दैनिक पत्र का प्रकाशन शुरू कर दें। लाखों रुपयों की संपत्ति की देखभाल के लिए प्रत्येक ट्रस्टी को काफी समय देना होगा। अतः उन्होंने दो ट्रस्टीज को पाँच-पाँच सौ

रुपया प्रतिमाह वेतन लेने के लिए भी लिखा है। अन्य ट्रस्टी मार्ग व्यय तथा दैनिक भत्ता मात्र प्राप्त कर सकते हैं।

शिक्षाप्रेमी अत्रे ने अपने गाँव के स्कूल के लिए पाँच हजार रुपए का दान तथा पूना विश्वविद्यालय को मराठी लेकर बी० ए० में उच्च अंक प्राप्त करने वाले छात्रों को पाँच हजार रुपए के पुरस्कार की व्यवस्था की है। इस प्रकार उदारमना अत्रे ने अपनी संपत्ति महाराष्ट्र के लोगों के कल्याण हेतु सौंपकर, पूँजीपतियों के सम्मुख एक अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया है।

❑

एक था चार्ल्स लिंडवर्ग—एक उसका साहस

२० मई, १९२७ वह दिन जिस दिन इतिहास ने एक अनोखा दृश्य देखा था। दृश्य कुछ भी रहा हो, फलितार्थ यह था कि एक व्यक्ति का साहस और संघर्ष की भावना एक नये युग का आविर्भाव कर सकती है। सारे संसार ने देखा कि मनोबल सर्वोपरि शक्ति है और वह जहाँ कहीं प्रकट हो वहीं चमत्कार उत्पन्न कर देता है।

न्यूयार्क अमेरिका का सर्वसंपन्न नगर है, वहाँ से पेरिस की दूरी ३६०० मील है। बीच में अटलांटिक महासागर अँगड़ाइयाँ भरता रहता है। पैदल और नौकाओं से कोई यात्रा करना चाहे तो अधिकतम ३६ मील प्रतिदिन चलकर भी दूरी सौ दिन से पहले तय नहीं की जा सकती। यही तो आश्चर्य है कि यह दूरी पहली बार इसी तिथि को केवल ३३५ घंटों में पूरी कर ली गई। यात्रा का यह श्रेय पाया चार्ल्स लिंडवर्ग ने—नहीं, नहीं, मानवीय हिम्मत ने, जो किसी भी युग की दिशाओं को ऐसे मोड़ सकती है जैसे कोई हरे बाँस की छड़।

चार्ल्स लिंडवर्ग ने एक हवाई जहाज बनाया था। उसे यह सिद्ध करना था कि जहाज के द्वारा सैकड़ों मील की दूरियाँ

कुछ ही क्षणों में पूरी की जा सकती हैं, पर परीक्षाएँ आराम-कुर्सियों पर सोते-सोते नहीं दी जातीं। उनके लिए कड़ा परिश्रम करना पड़ता है और फिर प्रश्नों को हल करने के लिए सावधानी और सजगतापूर्वक प्रस्तुत होना पड़ता है। यह तो सामान्य परीक्षाओं की बात है, यहाँ तो मनुष्य के पुरुषार्थ की, साहस और मनोबल की परीक्षा थी, उसे अपेक्षाकृत क्लिष्ट होना ही चाहिए था।

चार्ल्स लिंडवर्ग ने अपने मित्रों से हाथ मिलाया और जहाज की ओर चल पड़े। चलते-चलते एक मित्र ने पूछा—मित्र! तुम्हें पता है कि तुम ऐसा काम करने जा रहे हो, जिसमें तुम्हारे जीवन के अस्तित्व को भीषण खतरा है। ऐसे अवसरों पर स्वाभाविक ही है कि तुम्हें अपने जीवन की प्रिय वस्तुएँ याद आ रही हों। हम जानना चाहते हैं, वह कौन सी वस्तु हो सकती है, जो इस समय तुम्हारे स्मरण में आ रही है?

लिंडवर्ग ने भावुक नेत्रों से मित्र की ओर देखा। एक साथ ही उसने दो बातें, दो भाषाओं में कहीं। एक तो उसकी आँखों ने आँखों से कहा—मित्र, मनुष्य इतना छोटा और गर्हित प्राणी नहीं कि वह बड़े कार्यों के लिए छोटी-छोटी चिंताएँ किया करे। जीवन शाश्वत है, अविनाशी है, कल्पना ही क्यों करते हो कि मृत्यु आएगी। मौत से डरने वाले, आपदाओं से विनती करने वाले भी कहीं कोई उल्लेखनीय काम कर पाए हैं?

दूसरी भाषा—दूसरे शब्द उसने अपने मुख से कहे। हँसते हुए मित्र की बाँह अपनी ओर खींचकर उसे हृदय से लगाते हुए लिंडवर्ग ने उत्तर दिया—मित्र! मैं इस समय भूल गया हूँ कि अटलांटिक महासमुद्र नाम की कोई बाधा भी है। जो याद आ रहा है—वह है पेरिस का वह स्थान जहाँ अब से थोड़े घंटों बाद उतर जाऊँगा और संसार से कहूँगा, हम हैं—वह मनुष्य जिन्होंने साहस की शक्ति को प्रमाणित किया है।

लिंडवर्ग के एक-एक शब्द में आत्मविश्वास भरा हुआ था। ऐसे आत्म विश्वासी पुरुष-सिंहों ने संसार में जन्म न लिया होता तो पौरुष भी खरगोश और लोमड़ी की तरह झाड़ियों में छिपता फिर रहा होता। साहस और आत्मविश्वास ने ही भगवान के अस्तित्व को जिंदा रखा है। मुरदा दिल कितना ही ईश्वर-भक्त क्यों न हो—वह तो भगवान को कलंकित ही करता है, क्योंकि मनुष्य शरीर जैसी विभूति बनाकर उसके पास और कुछ गढ़ने को शेष नहीं रह गया। मनुष्य यदि ऐसा ऐश्वर्य प्राप्त कर लेने के बाद भी दीन-हीन, निकृष्ट और गर्हित जीवन जीता है तो उसका अर्थ यह हुआ कि भगवान ने किसी मंगल भावना से संसार नहीं रचा।

लिंडवर्ग की धर्मपत्नी ने एक बार पुनः उसे रोकने का असफल प्रयत्न किया और बोली—चार्ली, तुम्हें पता नहीं क्या? कि तुम जान-बूझकर मौत के मुख में जा रहे हो। लिंडवर्ग ने अपनी धर्मपत्नी की पीठ पर स्नेह का हाथ फेरते हुए कहा—प्रिये! तुम्हारा प्रेम बड़ा मधुर है, पर उससे भी मधुर है मृत्यु का आलिंगन, जिसे पाकर यौवन सार्थक हो जाता है। क्या तुम यह चाहोगी कि भयवश श्रेय और शौर्य की परंपराएँ बंद कर दी जाएँ। क्या तुम यह चाहोगी कि आने वाली हमारी पीढ़ियाँ उन्हीं घिसी-पीटी लकीरों पर चलती रहें, जिनमें न कुछ कुतूहल है और न प्राण। यदि जीवन ऐसे निर्जीव क्रिया-कलापों का ही नाम है, तो मैं तो यही कहूँगा कि मनुष्य में और दूसरे पशु-पक्षियों में कोई अंतर नहीं। हमसे अच्छे तो अन्य जीव ही हैं, जो कम से कम चिर-उन्मुक्तता का जीवनयापन करते हैं।

चार्ल्स लिंडवर्ग की निष्ठा को मरोड़ा नहीं जा सका। चार्ल्स लिंडवर्ग के साहस को तोड़ा नहीं जा सका, वह जिस शौर्य पथ पर आगे बढ़ा किसी भी प्रकार मोड़ा नहीं जा सका, उसी का यह परिणाम था कि उस दिन पहली बार

अमेरिका और फ्रांस—योरोप एकसूत्र हो गए। आज की वायुयान यात्राएँ उस ऐतिहासिक यात्रा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने की कसौटी से ही प्रांरभ होती हैं और अंत उसका होगा—विराट ब्रह्मांड की तीर्थयात्रा से। यह संभव है मनुष्य की हिम्मत और पुरुषार्थ के द्वारा। लोग कहते हैं वह यात्रा चार्ल्स लिंडवर्ग ने संपन्न की, पर बात यह है कि यह यात्रा साहस की आनंद की यात्रा थी। साहस और हिम्मत वाले मनुष्य के लिए संसार में अलभ्य क्या है ?

❑

राष्ट्रहित के लिए सर्वस्व का त्याग

स्वतंत्रता के अमर पुजारी महाराणा प्रताप मेवाड़ रक्षा का अंतिम प्रयास करते हुए भी निराश हो चले थे। सारा राज्य-वैभव समाप्त हो गया। अकबर की विशाल सेना का मुकाबला मुट्ठी भर राजपूत ही कर रहे थे। अपने शौर्य, पराक्रम और वीरता से उन्होंने दुश्मनों के दाँत खट्टे कर दिए थे, परंतु बेचारे करते क्या? इधर अल्पसंख्यक राजपूत, उधर टिड्डी दल की तरह मुगलों की अपरिमित सेना। जब एक सेना समाप्त हो जाती, दूसरी पुनः लड़ने के लिए भेज दी जाती। जब एक जगह का रसद पानी समाप्त हो जाता, दूसरे जगह से शीघ्र ही सहायतार्थ पहुँचा दिया जाता। अकबर की इस विशाल सेना और अतुल साधन का मुकाबला महाराणा अपने थोड़े सैनिकों और अल्प-साधनों से अब तक करते आ रहे थे।

अंत में समय ऐसा आ गया जब सारा धन और सारी सेना समाप्त हो गई। अब न पास में पैसा रहा और न अन्य साधन ही, जिससे पुनः सेना तैयार करते। मातृभूमि की रक्षा के लिए उपाय सोचे बिना नहीं चूके, परंतु क्या करते, अब एक भी वश नहीं चल रहा था। उधर मुगल सेना बढ़ती ही चली आ रही थी।

अरावली की पहाड़ियों में भी छिपकर जीवन बिता लेने की कोई सूरत न दीख रही थी। शत्रुदल वहाँ भी अपनी टोह लगाए बैठा हुआ था।

अपने जीवन की ऐसी विषम घड़ियों में एक दिन महाराणा व्यथित हृदय एकांत में विचार करने लगे—"अब मातृभूमि की रक्षा न हो सकेगी। माँ की रक्षा न कर सकने वाले मुझ अभागे को इस समय देश का त्याग कर कम-से-कम अपनी रक्षा तो कर ही लेनी चाहिए, जिससे भविष्य में कभी दिन लौटें और पुनः माँ को शत्रु के हाथों से स्वतंत्र करा सकूँ।"

दूसरे दिन प्रातः अपने परिवार और बचे-खुचे साथियों सहित वे सिंध प्रदेश की तरफ चल दिए। अभी थोड़ी दूर ही गए होंगे कि पीछे से किसी ने आर्त्त भरी आवाज लगाई—

"राणा, ठहरो। हम अभी जीवित हैं।" राणा ने पीछे मुड़कर देखा तो राज्य के पुराने मंत्री भामाशाह दौड़ते-हाँफते हुए उनकी ओर चले आ रहे हैं। उन्होंने अभी-अभी राणा के देश त्याग का समाचार पाया था।

समीप पहुँचकर आँखें डबडबाते हुए भामा बोले—"राजन्!" आप निराश हो जाएँगे तो आशा फिर किसके सहारे जीवित रहेगी? मुख मलिन किए हुए राणा प्रताप बोले, "मंत्रिवर! देश रक्षा के मेरे सारे साधन समाप्त हो चले। किसी साधन की खोज में ही कहीं चल पड़ा हूँ। यदि सुयोग हुआ तो फिर लौट सकूँगा, वरना सदा के लिए मातृभूमि से नाता तोड़ के जा रहा हूँ।"

स्वतंत्रता के पुजारी और मेवाड़ के सिंह की बातें बूढ़े भामाशाह के कलेजे में तीर जैसी जा चुभीं। वे हाथ जोड़कर बोले—"अपने घोड़े की बाग को मोड़िए और नए सिरे से लड़ाई की तैयारी पूरी कीजिए। इसमें जो कुछ भी खरच पड़ेगा उसे मैं दूँगा। मेरे पास आपके पूर्वजों की दी हुई पर्याप्त धनराशि पड़ी हुई है। जिस दिन मेवाड़ शत्रु के हाथों चला जाएगा, उस दिन वह अतुल संपत्ति भी तो उसी की हो जाएगी। फिर इससे

अधिक सुयोग और क्या हो सकता है, जब मातृभूमि से उपार्जित कमाई का एक-एक पैसा उसकी रक्षा में लगा दिया जाए।"

भामाशाह के इस अपूर्व त्याग और देशभक्ति की बातें सुनकर माहराणा प्रताप का दिल भर आया। वे वापस लौटे और उस संपत्ति से एक विशाल सेना तैयार करके शत्रु से जा डटे और सफलता प्राप्त की। कहते हैं कि भामाशाह ने इतनी संपत्ति अर्पित की जिससे महाराणा की पच्चीस हजार सेना का बारह वर्ष तक खरच चल सकता था। भामाशाह चले गए और राणा भी अब नहीं हैं, पर उनकी कृतियाँ अब भी हैं और सदा रहेंगी। देश को जब भी आवश्यकता पड़ेगी, उनकी प्रेरणाएँ अनेक राणा तैयार करेंगी और उसी प्रकार अनेक भमाशाह भी पैदा होते रहेंगे, जो अपनी चिर-संचित पूँजी को मातृभूमि के रक्षार्थ अर्पण करते रहेंगे।

❑

अक्का महादेवी-जिसने वासना पर विजय पाई

कर्नाटक प्रांत के एक छोटे से ग्राम उद्रुतड़ी में एक साधारण गृहस्थ के घर एक कन्या ने जन्म लिया—अक्का महादेवी उसका नाम रखा गया।

अक्का को उनके पिता श्री निर्मल ने संस्कृत की शिक्षा दिलाई। उससे धार्मिक संस्कार बल पा गए, उनके मन में आध्यात्मिक जिज्ञासाएँ जोर पकड़ गईं, उन्होंने सत्य की शोध का निश्चय कर लिया और उसी के फलस्वरूप वे ईश्वरभक्ति, साधना और योगाभ्यास में लग गईं।

आज हमें पाश्चात्य सभ्यता बंदी बना रही है। उन दिनों भारतवर्ष में मुसलिम संस्कृति और सभ्यता की आँधी आई हुई थी। मुसलमान शासकों की दमन नीति से भयभीत भारतीय अपने धर्म, अपनी संस्कृति को तेजी से छोड़ते जा रहे थे। ऐसे लोग थोड़े ही रह गए, जिनके मन में इस धार्मिक अवसान के प्रति चिंता और क्षोभ

रहा हो, जिन्होंने अपने धर्म और संस्कृति के प्रति त्याग भावना का प्रदर्शन किया हो।

अक्का महादेवी—एक साधारण सी ग्राम बाला ने प्रतिज्ञा की कि वह आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर, ईश्वर-उपासना और समाज-सेवा में रत रहकर अपने धार्मिक गौरव को बढ़ाएगी।

अक्का का सौंदर्य वैसे ही अद्वितीय था, उस पर संयम और सदाचार की तेजस्विता की कांति सोने में सुहागा बन गई। उनके सौंदर्य की तुलना राजकुमारियों से की जाने लगी।

तत्कालीन कर्नाटक के राजा कौशिक को अक्का महादेवी के अद्वितीय सौंदर्य का पता चला तो उनके सामने विवाह का प्रस्ताव रखा। साधारण लोगों ने इसे अक्का का महान सौभाग्य समझा, पर अक्का ने उस प्रलोभन को भगवान की उपस्थित की हुई परीक्षा अनुभव की। उन्होंने विचार करके देखा—सांसारिकता और धर्म-सेवा दोनों बातें एक साथ नहीं चल सकतीं। भोग और योग में कोई संबंध नहीं। यदि अपनी संस्कृति को जीवन देना है तो सांसारिक सुखोपभोग को बढ़ाया नहीं जा सकता। इच्छाओं को बलिदान करके ही उस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। यह विचार आते ही उन्होंने कौशिक का प्रस्ताव ठुकरा दिया।

जिनके उद्देश्य छोटे और तृष्णा-वासनाओं से घिरे हुए हों, वह बेचारे त्याग-तपश्चर्या का महत्त्व क्या जान सकते हैं? कौशिक ने इसे अपना अपमान समझा। उसने अक्का के माता-पिता को बंदी बनाकर कारागार में डलवाकर एक बार पुनः संदेश भेजा—"अब भी संबंध स्वीकार कर लो अन्यथा तुम्हारे माता-पिता का वध कर दिया जाएगा।"

अक्का ने विचार किया—लोक में अपने माता-पिता, भाई-बंधु भी आते हैं। सबके कल्याण की बात सोचें तो उनके ही कल्याण को क्यों भुलाएँ? सचमुच यह बड़ा सार्थक भाव था, उसे भुलाने का भाव ही पलायनवाद के रूप में इस देश में पनपा तो भी

उन्होंने सूझ से काम लिया—इन्होंने एक शर्त पर प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि वह समाज सेवा, संयम और साधना का परित्याग न करेंगी। कौशिक ने यह बात मान ली।

विवाह उन्होंने कर लिया पर अपनी निष्ठा से अपने कामुक पति को बदलकर संत बना दिया। अक्का और कौशिक दोनों ने मिलकर अपने धर्म, अपनी संस्कृति का सर्वत्र खूब प्रसार किया, उसी का यह फल है कि कर्नाटक प्रांत अभी भी पाश्चात्य सभ्यता के बुरे रंग से बहुत कुछ बचा हुआ है।

❑

अनावश्यक वस्तुओं का क्या करूँ ?

बल्लभाचार्य के समय में अनेक वैष्णव भक्त हुए, पर उनमें कुंभनदास का नाम आज भी बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है। यद्यपि वह परिवार में रहते थे पर परिवार उनमें नहीं। कृषि कार्य करने के बाद भी वह इतना समय बचा लेते थे कि जिसमें भक्ति के अनेक सुदर-सुंदर गीतों की रचना कर सकें।

जब वे अपने भक्ति-रस से पूर्ण गीतों को मधुर कंठ से गाते थे राह चलते लोग खड़े होकर सुनने लगते थे। भगवान के भक्त निर्धनता को वरदान समझते हैं। उनका विश्वास है कि अभाव का जीवन जीने वाले भक्तों की ईश्वर को याद सदैव आती रहती है।

हाँ कुंभनदास भी भौतिक संपदाओं से वंचित थे। वह इतने निर्धन थे कि मुख देखने के लिए एक दर्पण तक न खरीद सकते थे। स्नान के बाद जब कभी चंदन लगाने की आवश्यकता होती तो किसी पात्र में जल भरकर अपना चेहरा देखते थे।

जल से भरे पात्र को सामने रखे कुंभनदास तिलक लगा रहे थे कि महाराजा मानसिंह उनके दर्शन हेतु पधार गए। महाराजा ने आकर अभिवादन में 'जय श्रीकृष्ण' कहा—उत्तर में भक्त ने भी उन्हें पास बैठने का संकेत देते हुए 'जय श्रीकृष्ण' कहा। पर जल्दी

से पुन: जल भरकर लाने को कहा। राजा को वस्तु स्थिति समझते देर न लगी। उन्हें यह जानकर बड़ा दु:ख हुआ कि भगवान का भक्त एक छोटी सी वस्तु दर्पण के अभाव में कैसा कष्ट उठा रहा है? राजा मानसिंह ने अपने महल में एक सेवक भेजकर स्वर्णजटित दर्पण मँगवाया और भक्त के चरणों में अर्पित कर क्षमा माँगी।

कुंभनदास बोले—"राजन! हम जैसे निर्धन व्यक्ति के घर में इतनी मूल्यवान वस्तु क्या शोभा दे सकती है?"

मेरी तरफ से यह तुच्छ भेंट तो आपको स्वीकार करनी ही पड़ेगी। आपको जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता हो उनकी सूची दे दीजिए। घर जाकर मैं आपकी सुख-सुविधा का पूर्ण ध्यान रखकर समस्त वस्तुओं की व्यवस्था करवा दूँगा। राजा मानसिंह ने आग्रह के स्वर में अपनी बात कही।

"राजन निश्‍चिंत रहिए और अपनी जनता के प्रति उदार तथा कर्त्तव्य की भावना बनाए रखिए। मुझे किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं, भगवान की कृपा से सब प्रकार आनंद है। आप देखते नहीं भगवान का नाम स्मरण हेतु माला, आचमन और पूजन के लिए पंचपात्र, बैठने के लिए आसन आदि सभी उपयोगी वस्तुएँ तो हैं। कृपया आप यह दर्पण वापस ले जाइए। जिस दिन भक्त भी इसी प्रकार का भोग विलासमय जीवन व्यतीत करने लगेंगे उस दिन उनकी भक्ति समाप्त हो जाएगी।"

❑

रवींद्र की काव्य-साधना—गीतांजलि

आठ-नौ साल की आयु के रवींद्रनाथ को जब स्कूल में पढ़ने को भेजा गया तो शीघ्र ही एक दिन वहाँ से लौटने पर उन्होंने कहा—"पिताजी! मैं कल से स्कूल में पढ़ने नहीं जाऊँगा। वह तो कारागार है। वहाँ बालकों को दंड दिया जाता है, उन्हें बेंचों पर खड़ा कर दिया जाता है और फिर उन पर कक्षा की सभी स्लेटों का बोझ

लाद दिया जाता है और फिर वहाँ कोई आकर्षण भी तो नहीं है। वही डेस्क, वहीं बेंच, सुबह से शाम तक एकसी ही बातें होती रहती हैं।''

पिता ने पुत्र की व्यथा को समझ लिया और शिक्षकों से कह दिया—''यह बालक पढ़ने के लिए पैदा नहीं हुआ। हम स्कूल वालों को जो वेतन देते हैं, वह केवल इसलिए है कि यह वहाँ बैठा रहे।''

पुस्तकों को याद करने और रटने के बजाय बाल्यावस्था में रविबाबू अपने विशाल भवन के एक बरामदे में रखी हुई पुरानी पालकी में घुसकर बैठ जाते। उस अँधेरे स्थान में पहुँचकर वे कल्पनाओं में निमग्न हो जाते। उस अवस्था में उनकी पालकी सैकड़ों कहारों के कंधों पर लदी हुई अनेक वन-पर्वतों को पार करती पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक जा पहुँचकर स्थल का मार्ग समाप्त हो जाता और कहार कहने लगते हैं—''अब आगे रास्ता नहीं है, अन्नदाता! सब तरफ जल ही जल दीख पड़ता है।'' पर बालक रवींद्र कल्पना की उड़ान में कब मानने वाला था? उसकी पालकी असीम जलराशि पर तैरने लगती। कितनी ही प्रचंड लहरें पालकी से टकरातीं, कितने ही भीषण तूफान आते, किंतु उसकी पालकी बराबर आगे बढ़ती हुई उस पार पहुँच जाती। उस प्रदेश के सुंदर भवन, बाग, संगीत और गान-वाद्य की स्वरलहरी, नृत्य आदि उसे आनंद-विभोर कर देते। वह स्वयं भी मस्त होकर कुछ गुनगुनाते लगता।

और कुछ साल बाद वास्तव में ऐसा समय आया जब बाल्यावस्था का स्वप्न साकार होने लगा। कवि अपनी रचनाओं के बल पर जहाज रूपी पालकी द्वारा योरोप, अमेरिका तक जा पहुँचे। वहाँ के बड़े-बड़े विद्वानों, गुणवानों, श्रीमानों ने आपका स्वागत-सत्कार बड़े प्रेम से किया। वहाँ के नर-नारी आपकी

प्रतिभा और अपूर्व सौंदर्य पर मुग्ध हो गए और सैकड़ों विशाल सभाओं और गोष्ठियों में उन देशों के सर्वोत्तम संगीत और कला-प्रदर्शन द्वारा आपका स्वागत किया गया। धार्मिक जनों को आप ईसाइयों के किसी प्राचीन संत की तरह जान पड़ते थे और वे बड़ी श्रद्धा से आपके चोगे (लबादा) का दामन चूमने लगते थे।

कवि जब अपनी 'गीतांजलि' की कविताओं को गाकर सुनाने लगते तो श्रोता मुग्ध होकर भाव-विभोर हो जाते और चारों तरफ से रवि बाबू पर साधुवादों की वर्षा होने लगती। अंत में वहाँ का विद्वान समाज इनकी बहुमुखी प्रतिभा और योग्यता से इतना प्रभावित हुआ कि उस महाद्वीप का सर्वश्रेष्ठ समझा जाने वाला सवा लाख डॉलर का 'नोबुल पुरस्कार' 'गीतांजलि' के उपलक्ष्य में उन्हीं को प्रदान किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने विद्या की सबसे बड़ी उपाधि डी० लिट्० (डॉक्टर ऑफ लिटरेचर) प्रदान की और समस्त देश ने एक स्वर से उनको विश्वकवि घोषित कर दिया। 'गीतांजलि' की महिमा-गान करते हुए कहा गया है—

"यह आध्यात्मिक भावनाओं का सार है। इसमें वैष्णव कवियों की प्रेम भावना का अनुपम सम्मिश्रण है। उपनिषदों के सारगर्भित विचारों का इसमें बड़ी मार्मिकता से समावेश किया गया है और बताया गया है कि जो मनुष्य संपूर्ण प्राणियों में ईश्वर को देखता है। वह कभी न तो पाप कर सकता है और न पाप से प्रभावित हो सकता है। ऐसे व्यक्ति को मृत्यु तक का भय नहीं जान पड़ता, क्योंकि भगवान को अपने अंतर में देख लेने पर वह अमर जीवन हो जाता है।" आज भी गीतांजलि से यही वाणी मुखरित हो रही है।

❑

राष्ट्र निर्माण के लिए राष्ट्र भाषा की प्रगति अनिवार्य है

बाबू राजेंद्र प्रसाद का 'विद्यारंभ संस्कार' उस समय के अनुसार एक मौलवी के पास उर्दू-फारसी में कराया गया था। नतीजा यह हुआ कि वे स्कूल और कॉलेज में भी इंटर तक अँगरेजी के साथ उर्दू-फारसी ही पढ़ते चले गए। पर जब वे कलकत्ता जाकर बी० ए० में भरती हुए, तो उनके सामने कई भाषाओं में से एक चुनने का प्रश्न आया। यद्यपि उन्होंने अब तक हिंदी नहीं पढ़ी थी और कॉलेज में हिंदी के अध्ययन की व्यवस्था नहीं थी, तो भी उनका झुकाव विशेष रूप से हिंदी की ही तरफ हुआ। संभवत: इसका कारण उनकी राष्ट्रीय और जातीय भावनाएँ ही थीं। उनके कई मित्रों ने कहा कि तुम हिंदी लेकर बड़ी गलती कर रहे हो। जब अब तक तुमने हिंदी नहीं पढ़ी, तब एकाएक बी० ए० में लेने का नतीजा यह होगा कि तुम्हें बहुत कम नंबर मिलेंगे और तुम्हारा डिवीजन खराब हो जाएगा। पर राजेंद्र बाबू ने उनका समाधान यह कहकर कर दिया—"हिंदी तो हमारी मातृभाषा है, उसके न सीख सकने या नंबर कम आने का संदेह करना व्यर्थ है। हमको आखिर इस मातृभूमि और मातृभाषा की हृदय से सेवा करके अपना कर्त्तव्यपालन करना ही होगा? तब उसको बिना सीखे किस प्रकार काम चल सकता है?"

उन्होंने सब विचार त्यागकर हिंदी ही ली और घर पर निजी तौर पर अध्ययन करके बहुत अच्छे नंबरों से पास हो गए।

राजेंद्र बाबू ने जैसा सोचा था, वही कुछ समय पश्चात सामने आया। राष्ट्रीय आंदोलन के साथ देश में राष्ट्रभाषा की आवश्यकता और उसके प्रचार के लिए प्रयत्न करने की तरफ नेताओं का ध्यान गया। श्री पुरुषोत्तम दास जी टंडन तथा उनके सहयोगियों ने प्रयाग में हिंदी-साहित्य सम्मेलन की स्थापना की, जिसका उद्देश्य राष्ट्रभाषा के रूप में समस्त भारत में

हिंदी का प्रचार करना था। सम्मेलन का तीसरा वार्षिकोत्सव सन् १९१३ में कलकत्ता में हुआ और राजेंद्र बाबू को स्वागत समिति का प्रधान मंत्री बनाया गया। उसी समय पटना में आल इंडिया कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था, पर आप हिंदी साहित्य सम्मेलन की व्यवस्था में इतने व्यस्त रहे कि पटना न जा सके। सन् १९२६ में 'हिंदी साहित्य सम्मेलन' के सभापति भी बनाए गए। प्रांतीय हिंदी साहित्य सम्मेलनों के कई अधिवेशनों में आपने अध्यक्षता की थी।

आपने जो हिंदी प्रचार का कार्य १९१३ में उठाया था वह आजन्म चलता ही रहा। आगे चलकर आप ही सम्मेलन की 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति', के अध्यक्ष बनाए गए और उसके द्वारा मद्रास तथा आसाम जैसे दूरवर्ती प्रांतों में वर्षों तक हिंदी के पठन-पाठन और प्रचार की व्यवस्था की गई। कुछ लोग उस समय इस प्रचार की उपयोगिता न समझकर, उसकी विपरीत आलोचना करते थे। ऐसे लोगों को उत्तर देते हुए आपने लिखा था—"राष्ट्र के लिए राष्ट्रभाषा आवश्यक है और वह भाषा हिंदी ही हो सकती है।" इसमें दक्षिण वालों ने पूरा सहयोग दिया। इधर कई वर्षों से इस कार्य में होने वाला वहाँ का सारा खरच, वहाँ के लोगों से ही मिल जाता है और उत्तर भारत से वहाँ पर धन नहीं भेजना पड़ता है। मैं समझता हूँ कि इसी प्रकार अन्य हिंदी प्रांतों में भी कुछ दिनों काम करने के बाद हमारा वैसा ही अनुभव होगा। हिंदी-प्रसार को मैं भीख की झोली नहीं मानता और न यह मानता हूँ कि इसके पीछे कोई द्वेष बुद्धि है। इसका एक उद्देश्य है सारे देश के लिए एक राष्ट्रभाषा का प्रचार। किसी भी प्रांतीय भाषा को मिटाने या कमजोर करने की इच्छा किसी के दिल में स्वप्न में भी नहीं आई और न आएगी। हम राष्ट्र के प्रति अपना कर्त्तव्य मात्र कर रहे हैं और उसे करते रहने में ही हमारा और देश का कल्याण है।

❑

न्याय सबके लिए एक जैसा

राज-कर्मचारियों को विशेष अधिकार मिलते हैं, वह पद का कर्त्तव्य सुविधापूर्वक निभा सकने के लिए होते हैं। व्यक्ति की प्रतिष्ठा से उन अधिकारों का कोई संबंध नहीं रहता। इस तथ्य को सिद्धांत रूप में मानने वाले अधिकारीगण ही अपने कर्त्तव्यों का पालन नेकी और ईमानदारी से कर सकते हैं। अधिकारों से अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता या प्रतिष्ठा को ऊँचा दिखाने की स्वार्थपूर्ण भावना के कारण ही भ्रष्टाचार बढ़ता है और जन-साधारण में बुराइयों के प्रसार का साहस बढ़ता है।

लोकतंत्र में कर्त्तव्य के पालन की अवहेलना की जाती है, तभी वह जनता के लिए घातक बनता है। इसलिए उसकी सफलता का सारा भार उन अधिकारियों पर आता है, जो कानून और व्यवस्था पर नियंत्रण रखने के लिए नियुक्त किए जाते हैं। इनमें जितनी अधिक ईमानदारी और इंसाफ पसंदगी होगी लोकतंत्र उतना ही खुशहाल होगा, उतना ही अधिक जनता को सुविधाएँ मिलेंगी। राष्ट्रीय जीवन में व्यापक तौर पर नैतिकता का प्रसार भी बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि अधिकारी वर्ग अपने उत्तरदायित्वों का पालन किस निष्ठा के साथ करते हैं ?

ऐसे उदाहरणों में एक उदाहरण कोंडागिल (मद्रास) के सत्र न्यायाधीश श्री के० एम० संजीवैया का भी है, जिन्होंने कर्त्तव्य-पालन में सर्वोत्कृष्ट ईमानदारी का परिचय दिया। कसौटी का समय तब आया, जब उनकी अदालत में एक ऐसा अभियुक्त पेश किया गया, जो उन्हीं का पुत्र था और एक मित्र के फर्म में चोरी करने के आरोप में पकड़ा गया था। अभियुक्त की पैरवी उसके चाचा कर रहे थे। पुलिस केस था, इसलिए मामले का सारा उत्तरदायित्व भी सरकार पर ही था।

सरकारी वकील ने मुकदमा प्रारंभ होने पर आपत्ति की — "चूँकि अभियुक्त का संबंध सीधे जज महोदय से है, इसलिए

उसे दूसरी अदालत में बदल दिया जाना चाहिए।" माननीय जज के लिए यह परीक्षा का समय था। उन्होंने विचार किया कि यदि अपने प्रभाव का उपयोग करना हो तो वह दूसरी अदालत में भी संभव है, पर यदि ईमानदारी के साथ अपने कर्त्तव्यपालन की परीक्षा ही होनी है तो अभियुक्त के रूप में भले ही उनका पुत्र प्रस्तुत हो, उन्हें मुकदमा करना चाहिए और उसमें उतनी ही कठोरता बरती जानी चाहिए जितनी अन्य अभियुक्तों के साथ होती है।

विद्वान जज ने दलील दी कि मामला दूसरी अदालत में तभी जा सकता है, जब यहाँ का फैसला असंतोषजनक हो, अपने कार्य को दूसरे पर टालने की अनावश्यकता का उन्होंने विरोध किया, जिससे मामले की सुनवाई उसी अदालत में हुई।

प्रत्येक तारीख के बाद जब जज साहब घर लौटते तो उनकी धर्मपत्नी आग्रह करतीं—"आपका ही पुत्र है, इसे बचाने की जिम्मेदारी भी तो आप पर ही है।" अपने उत्तर में जज साहब हलकी सी मुस्कान के साथ आश्वासन देते, वे इसके लिए प्रयत्नशील रहेंगे।

आखिर वह दिन आया जब फैसले की तिथि आ पड़ी। कचहरी में जज साहब की पत्नी के अतिरिक्त उनके बहुत से संबंधी भी एकत्रित थे। फैसला करने से पहले उन पर दबाव भी डाला गया, पर जब उन्होंने अपराधी बेटे को २ वर्ष सख्त कैद की सजा सुनाई तो सारे कोर्ट में सन्नाटा छा गया। न्यायालय की कार्यवाही पर सरकारी कर्मचारियों ने जहाँ संतोष व्यक्त किया और जज साहब की न्यायप्रियता की प्रशंसा हुई, वहाँ उनकी धर्मपत्नी और संबंधियों ने उन पर तीखे आक्षेप भी किए। जज साहब ने अपने कुटुंबियों से कहा—अभियुक्त का पिता होने के कारण मेरी उसके साथ सहानुभूति थी, किंतु न्यायालय में मेरा उसका संबंध अपराधी और न्यायाधीश का होता था। वह स्थान

मुझे न्याय के लिए मिला है, उसमें अपने-पराये का प्रश्न नहीं उठता। सब चुप हो गए। सभी ने जज साहब के कर्त्तव्यपालन पर संतोष ही अनुभव किया।

❑

सच्चे जीवन की झलक

श्रीमती लस्सीचेस इंग्लैंड की निवासी थीं। उनके पति भारतीय सेना में मेजर के पद पर थे। भौतिकवाद की समर्थक ब्रिटिश सभ्यता में पली नारी और फिर एक फौजी मेजर की पत्नी— लस्सीचेस, बड़े ठाठ-बाट से रहतीं और सैर-सपाटा करतीं। जिंदगी उनके लिए एक उत्सव के समान थी और उसे उसी प्रकार जी भी रही थीं।

श्रीमती लस्सीचेस को दो खास शौक थे। एक फिल्म देखना और दूसरा मित्रों को दावत देना। उनके घर आएदिन मित्रों की दावत होती रहती थी और हर नई फिल्म को वे देखे बिना नहीं रहती थी। पैसे के संबंध में लस्सीचेस पति पर ही निर्भर न रहती थीं। उन्हें अपने पिता से वसीयत में एक लंबी रकम मिली हुई थी। पैसे की उन्हें जरा भी कमी न थी।

एक लंबे अरसे तक यह जीवन चलता रहा, फिर सहसा एकदम बदल गया। यह परिवर्तन उनमें तब हुआ, जब वे कुछ दिन भारत में पति के साथ रहकर लंदन वापस आ गईं। भारत-प्रवास के बाद उन्होंने शराब पीना छोड़ दिया। रंगीन, कीमती और तड़क-भड़क वाले कपड़ों से उन्हें अरुचि हो गई। रहन-सहन और आचार-विचार में शालीनता आ गई। उनका प्रतिमास खरच हजारों से घटकर सैकड़ों में आ गया। भारत से आने के बाद श्रीमती लस्सीचेस में एक अप्रत्याशित संतत्व आ गया।

परिचितों, मित्रों और सखी-सहेलियों को श्रीमती चेस के इस आमूल एवं आकस्मिक परिवर्तन पर बड़ा आश्चर्य हुआ, वे अपने

लिए इस आश्चर्य से व्यग्र होकर पूछ ही बैठे—"श्रीमती चेस! आप जब से भारत-प्रवास से वापस आई हैं, तब से आपका जीवन ही बदल गया है। आखिर ऐसा कौन सा शोक आपके हृदय में घुस बैठा है, जिससे आप जिंदगी से उदासीन हो गई हैं?"

श्रीमती लस्सीचेस ने मित्रों को धैर्यपूर्वक सुना और उत्तर दिया—"भारत-प्रवास के समय मैं उसके प्राचीन साहित्य को पढ़ चुकी हूँ और उसकी प्रेरणा से मुझे यह प्रकाश मिला है—जो शांति सादगी में है, उसका रंचमात्र प्रदर्शन में नहीं है। फिर भी अभी मेरा जीवन अपूर्ण है। कुछ ही समय में मैं उसकी पूर्ति करने का कार्यक्रम चलाने वाली हूँ।"

और वास्तव में कुछ ही समय बाद लोगों ने देखा कि श्रीमती लस्सीचेस ने समाज सेवा का कार्यक्रम शुरू कर दिया। उन्होंने लंदन की मजदूर तथा गरीब बस्तियों में जाना और स्वच्छता तथा शिक्षा का प्रचार करना प्रारंभ कर दिया। वे गरीब तथा महिला-मजदूरों और उनके बच्चों को स्वयं पढ़ातीं और शराब व सिगरेट पीने से विरत करतीं। अपने जीवन का उदाहरण देकर, उन्हें जीवन का सच्चा मार्ग बतलातीं और अनुभव करातीं कि गरीबी में भी सुंदरतापूर्वक रहा जा सकता है, यदि उसे दुर्व्यसनों से दूषित न किया जाए।

श्रीमती लस्सीचेस अपने शौक आदि पर जो रुपया खरच करती थीं, वह अपने पर खरच न करके समाज सेवा व गरीबों की सेवा में खरच करने लगीं, जिससे उन्हें न केवल आत्मशांति ही मिलती बल्कि वे अपने सेवा-क्षेत्र में देवी के रूप में पूजी जाने लगीं।

कुछ समय बाद उनके पति का देहांत हो गया। उनके मित्रों तथा संबंधियों ने बहुत कुछ समझाया कि वे फिर विवाह कर लें और अपनी संपत्ति का जी भरकर उपभोग करें। श्रीमती चेस इसके लिए किसी प्रकार भी तैयार न हुईं। उन्होंने बार-बार यही उत्तर

दिया कि मैं समाज की हूँ, मेरी संपत्ति समाज की है, उसे फूँकने और बहाने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। अब इसका व्यक्तिगत जीवन में उपभोग करने का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, इसका सामाजिक हित में सदुपयोग अवश्य करूँगी। श्रीमती चेस की इस दृढ़ता एवं उच्चता से प्रभावित होकर उनके संपर्क में आने वाली कितनी ही महिलाओं का जीवन बदला तथा सुधर गया।

कुछ समय बाद जब उनकी मृत्यु हुई तो उनकी वसीयत के अनुसार उनकी लाखों की संपत्ति इंग्लैंड के गिरजाघरों को बाँट दी गई जिन्हें उस देश में सच्चे धर्म—गरीबों की सहायता तथा उन विधवाओं की मदद में खरच करने के लिए निर्देश दिया गया था, जो पुनर्विवाह न कर शेष जीवन उन्हीं की तरह समाज की सेवा में लगाने की इच्छुक हों।

❑

पीड़ितों के अनन्य सेवक—माणिक्यलाल वर्मा

राजस्थान के लब्ध प्रतिष्ठ समाजसेवी श्री माणिक्यलाल वर्मा की जीवन कहानी अनोखी है। बैलगाड़ी पर अपनी सारी गृहस्थी सहित सपेरे, नगर-नगर और ग्राम-ग्राम भटकने वाले गाडिया लोहार उनको खूब जानते थे। रेलवे स्टेशन से सैकड़ों मील दूर घने जंगलों में पहाड़ी की टेकरियों पर झोंपड़ी बनाकर रहने वाले अधनंगे भील भी उनसे अपरिचित नहीं थे। कंजर और खारी, जिनके माथे पर समाज ने जन्मजात अपराधी होने का टीका लगा दिया था, उन्हें अपना समझते थे। कालबेलिये, जो साँपों को पालते हैं और बनजारे, जो बैलों की पीठ पर अनाज लादकर, एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाते हैं, उन्हें अच्छी तरह पहचानते थे। राजस्थान और पाकिस्तान की सीमा पर रेत के टीलों के बीच रहने वाले हरिजनों और गोपालक मुसलमानों से उनकी मित्रता थी।

जो अभावग्रस्त हैं, भूख और गरीबी के शिकार हैं, दलित और शोषित हैं, पिछड़े हुए हैं, अज्ञान और अंधविश्वास के पाश में जकड़े

हुए हैं, ऐसे लाखों स्त्री-पुरुषों और बच्चों का माणिक्यलाल जी ने प्यार और आदर पाया था। उनकी मृत्यु पर सबने यह महसूस किया कि उनकी सुध लेने वाला, उनका आत्मीय और उनका सहारा उनसे छिन गया।

माणिक्यलाल वर्मा के निधन पर राजस्थान में सरकारी दफ्तरों पर झंडे झुका दिए गए और उनकी अंत्येष्टि राजकीय सम्मान के साथ की गई। राष्ट्रपति ने उन्हें पद्म भूषण की उपाधि से अलंकृत किया था। यह राजकीय सम्मान की बात विस्मृत हो जाएगी, किंतु गरीबों के लिए उनके दिल में जो तड़प थी, वह बिजली की तरह कौंधती रहेगी। राजस्थान में बिजोलिया ने हिंदुस्तान में सत्याग्रह का शंख सबसे पहले फूँका था और माणिक्यलाल जी राजस्थान को और देश को इसी बिजोलिया की देन थे। उन्होंने सामंती अत्याचारों से मोरचा लिया और अकथनीय कष्ट झेले। उनका एक पाँव जेल के भीतर और दूसरा बाहर रहा। स्वराज्य आया, तब भी वे चैन से नहीं बैठे। पिछड़ी जातियों को ऊँचा उठाने के लिए रात-दिन भटकते रहे। गाड़िया लोहारों को बसाने का उन्होंने भगीरथ प्रयत्न किया। गाड़िया लोहार राणा प्रताप के लिए तोप-बंदूक बनाते थे। चित्तौड़ दुर्ग पर जब मुगलों ने अधिकार कर लिया, तब वे यह प्रतिज्ञा करके निकल पड़े कि जब तक यह दुर्ग पुनः स्वतंत्र न होगा, वे कहीं घर बनाकर नहीं रहेंगे। माणिक्यलाल जी ने गाड़िया लोहारों के वनवास को समाप्त कराया। वह नेहरू जी को खींचकर चित्तौड़ दुर्ग पर ले गए और हजारों गाड़िया लोहारों की उपस्थिति में दुर्ग पर राष्ट्रीय झंडा फहराकर उन्हें विश्वास दिलाया कि सैकड़ों वर्षों बाद उनकी प्रतिज्ञा पूरी हुई और वे अब घर बनाकर बस सकते हैं।

आज से कोई ३५ वर्ष पहले की बात है। रेलवे स्टेशन से करीब एक सौ मील दूर भूतपूर्व डुंगरपुर रियासत में भीलों की बस्ती के मध्य खड़लाई की पाल में एक पहाड़ी की टेकरी पर

माणिक्यलाल जी ने अपना डेरा डाला था। ऊपर खुला आकाश, उसकी तलहटी में एक नाला बहता था। माणिक्यलाल जी में यह चमत्कारी गुण था कि बात की बात में लोगों के घरों और उनके दिलों में प्रविष्ट हो जाते थे। आते-जाते भीलों ने जल्दी ही जंगल से लकड़ी काटकर उनके लिए झोंपड़ा खड़ा कर दिया और एक-एक, दो-दो मील दूर से भी बालक और बालिकाएँ उनके विद्यालय में पढ़ने आने लगे। अँधेरी रात में शेर पहाड़ी नाले पर पानी पीने के लिए पास से गुजर जाता, परंतु माणिक्यलाल जी निर्भय होकर अपनी झोंपड़ी में सोते रहते।

वे अपने पीछे ऐसे समर्पित जीवन की मशाल जला गए, जो चिरकाल तक बराबर रोशनी देती रहेगी, उनका सेवाभावी जीवन तरुणों को अन्याय और अत्याचारों के खिलाफ संघर्ष के लिए सदैव प्रेरणादायी सिद्ध होगा।

❑

परंपरा जब अंधी हो जाती है

बात उन दिनों की है जब रूस में जार अलेक्जेंडर का शासन था। उसके व्यक्तिगत निवास में बहुत थोड़े और विश्वसनीय लोग ही पहुँच सकते थे, इसलिए कितने ही रहस्य ऐसे थे, जो औरों तक कभी प्रकट ही नहीं हो सके।

एक दिन 'प्रशा' के राजदूत बिस्मार्क जार से भेंट करने उनके महल पर गए। बिस्मार्क जहाँ बैठे थे, उसके ठीक सामने खिड़की पड़ती थी, जिससे बहुत पीछे तक का बाहरी दृश्य भी वहाँ से अच्छी तरह दिखाई दे रहा था। बिस्मार्क ने देखा कि बहुत देर से एक रायफलधारी संतरी मैदान में खड़ा है, जबकि रक्षा करने जैसी कोई वस्तु वहाँ पर नहीं है। शांतिकाल था—इसलिए सैनिक गश्त जैसी कोई बात भी नहीं थी।

बड़ी देर हो गई तब बिस्मार्क ने जार से ही पूछा—यह संतरी क्यों खड़ा है? जार को स्वयं भी पता नहीं था कि संतरी वहाँ किस बात का पहरा दे रहा है?

जार ने अपने अंगरक्षक सेनाधिकारी को बुलाया और पूछा—"यह संतरी इस पीछे के मैदान में किसलिए नियुक्त किया जाता है?" सेनाधिकारी ने बताया—सरकार! यह बहुत दिनों से ही यहाँ खड़ा होता चला आ रहा है। जार ने थोड़ा कड़े स्वर में कहा—"यह तो मैं भी देख रहा हूँ, मेरा प्रश्न यह है कि संतरी यहाँ किसलिए खड़ा होता है? जाओ और पता लगाकर पूरी बात मालूम करो।"

सेनाधिकारी को कई दिन तो यह पता लगाने में ही लग गए थे। चौथे दिन सारी स्थिति का पता कर वह पुनः जार के सम्मुख उपस्थित हुआ और बताया—

"पुराने सरकारी कागजात देखने से पता चला कि ८० वर्ष पहले महारानी कैथरीन के आदेश से एक संतरी वहाँ खड़ा किया गया था। बात यह थी कि एक दिन जब वे घूमने के लिए निकलीं, तब इस मैदान में बरफ जमा थी। सारे मैदान में एक फूल का पौधा था और उसमें एक बहुत सुंदर फूल खिला हुआ था। कैथरीन को वह फूल बेहद सुंदर लगा, सो उसकी सुरक्षा के लिए तत्काल वहाँ एक संतरी खड़ा करने का आदेश दिया और इस तरह वहाँ संतरी खड़ा करने की परंपरा चल पड़ी। ८० वर्ष हो गए न किसी ने आदेश को बदला, न किसी ने उसकी आवश्यकता अनुभव की, सो उस स्थान पर व्यर्थ ही पहरेदारी बराबर चलती आ रही है।"

जार को गुस्सा भी आया और हँसी भी। गुस्सा इसलिए कि परंपराओं का निरीक्षण न होने से यह ख़रच व्यर्थ ही होता रहा और हँसी इसलिए कि पहले तो एक फूल भी था, पर ८० वर्ष से तो उस मैदान में अच्छी घास भी नहीं है, न जाने संतरी किसकी रखवाली कर रहा है?

कहानी यहाँ समाप्त नहीं हो गई वरन सही कहानी अब प्रारंभ होती है और वह यह है कि समाज में स्वयं आज दहेज, परदा प्रथा, जाति-पाँति, ऊँच-नीच, मृतकभोज स्वस्थ परंपरा के रूप में प्रचलित किए गए थे। अब अंधपरंपरा बन चुके हैं। वर्तमान परिस्थितियों में न तो उनकी आवश्यकता है और न उपयोगिता, फिर भी न तो कोई यह देख रहा कि यह परंपराएँ आखिर किस उद्देश्य से बनी थीं और न ही कोई उन्हें मिटाने का साहस कर रहा है। हम व्यर्थ ही उपहास और अपव्यय के पात्र बने उन्हें अपने छाती से वैसे ही चिपकाए हैं जैसे—रूस का यह बिना कारण—पहरा।

❑

ज्योतिष पुरुषार्थ का प्रबल शत्रु

नेपोलियन बोनापार्ट की प्रेमिका जेसोफाइन ने एक बार उसे एक पत्र लिखा—"मैं देखती हूँ, जो फ्रांस एक दिन पुरुषार्थ के ढाँचे में पूरी तरह ढल चुका था, जिसे आपने पराक्रम का पाठ पढ़ाया था, आज उसी फ्रांस की नसें आपके देववाद के आश्रय के कारण शिथिल पड़ती जा रही हैं। मनुष्य अपनी भुजाओं, अपने शस्त्र पर भरोसा न करे और यह सोचे कि घड़ी, शकुन, देवता उसकी सहायता कर जाएँगे तो मैं समझती हूँ इससे बढ़कर मानवीय शक्ति का और कोई दूसरा अपमान नहीं हो सकता।"

ऐसा पत्र लिखने का खास कारण था। एक समय था, जब नेपोलियन ज्योतिष पर बिलकुल भी विश्वास नहीं करता था। उसके सेनापति चाहते थे कि नेपोलियन ज्योतिषियों से पूछकर कोई कदम बढ़ाया करे, किंतु नेपोलियन ने उनको डाँटकर कहा—"ईश्वर यदि सहायक हो सकता है तो वह पराक्रमी और पुरुषार्थियों के लिए है। भाग्यवाद का आश्रय लेने वालों को पिसने और असफलता का मुँह देखने के अतिरिक्त हाथ कुछ नहीं लगता।"

जब तक नेपोलियन अपने सिद्धांत पर दृढ़ रहा, तब तक वह अकेला ही दुश्मनों के छक्के छुड़ाता रहा, पर दुर्भाग्य, एक दिन वह स्वयं भी देववाद पर विश्वास करने लगा। वह पत्र उसी संदर्भ में लिखा गया था। नेपोलियन की यही ढील अंततः उसके पराजय का कारण बनी।

भारतीय तत्त्वदर्शन की अनेक शाखाओं में ज्योतिष का भी विधान है, पर वह विशुद्ध गणित के रूप में है और उसका विकास होना चाहिए, किंतु उसके फलितार्थ सामूहिक रूप से सारी पृथ्वी और मानव जाति के जीवन को प्रभावित करते हैं। व्यक्तिगत जीवन में स्थान-स्थान पर ज्योतिष और भाग्यवाद के पुँछल्ले असफलता और पतन के ही कारण हो सकते हैं। नेपोलियन बोनापार्ट की तरह हमारे देश भारतवर्ष के साथ भी ऐसा ही हुआ। फलित के चक्कर में पड़कर सारे देश के पराक्रम की नसें ढीली पड़ गई और हमें सर्वत्र पराजय का मुँह देखना पड़ा।

सोमनाथ का मंदिर लुटा तब ज्योतिषों के अनुसार मुहूर्त नहीं था। यदि सैनिक उस पांखड को न मानते तो भारत देश की यह दुर्गति न होती। आज भी ज्योतिष के चक्कर में पड़कर हमारी सफलता के सोमनाथ लुटते रहते हैं और हम अपनी उन्नति के लिए भाग्य का मुख ताकते खड़े रहते हैं।

आज हमारे देश को अब्राहम लिंकन जैसे औंधे भाग्य को अपने पुरुषार्थ और पराक्रम से सीधा करने वाले होनहारों की आवश्यकता है। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका में गृहयुद्ध शुरू हो गया था। लगता था दोनों राज्य अलग-अलग होकर ही रहेंगे। तभी अब्राहम लिंकन ने अपना एक ऐतिहासिक निर्णय दिया कि दोनों प्रदेशों की एकता सैनिक शक्ति के द्वारा अक्षुण्ण रखी जाएगी। उसने युद्ध की सारी तैयारी कर भी ली।

उसी समय उनका एक मित्र आया। उसने कहा—महोदय! अपने निर्णय पर अमल करने से पूर्व आप ज्योतिषियों से भी राय ले

लें। मैं तीन ज्योतिषियों को लेकर आया हूँ। वे पास के कमरे में ही आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

लिंकन ने सोचा—ज्योतिषी कभी एक राय के नहीं होते, इसी से सिद्ध है कि वे अंतिम सत्य नहीं। लिंकन ने अपने सैनिक बुलाए और कहा—"इस बगल के कमरे में राष्ट्र के तीन शत्रु बैठे हैं, दरवाजा बंद कर ताला लगा दो, जब तक हम विजयी होकर नहीं लौटते, ताला न खोला जाए।" ज्योतिषवाद के भ्रम में पड़कर लिंकन अपने पराक्रम और पुरुषार्थ के पथ से विचलित हो जाते तो अमेरिकन एकता के युद्ध का और ही दृश्य होता। हमारे जीवन में जो पग-पग पर असफलताएँ दिखाई दे रही हैं, वह हमारे भाग्यवाद के कारण ही हैं। यदि हम हीन भाव को भगा दें तो जीवन संग्राम में हम भी लिंकन के समान ही सर्वत्र सफलता अर्जित कर सकते हैं।

❑

मूर्तिमान सांस्कृतिक स्वाभिमानी

एक बड़े विद्यालय में, जिसमें अधिकांश छात्र अप टू डेट फैशन वाले दिखाई पड़ते थे, एक नए विद्यार्थी ने प्रवेश लिया। प्रवेश के समय उसकी पोशाक—धोती, कुर्ता, टोपी, जाकेट और पैरों में साधारण चप्पल।

विद्यालय के छात्रों के लिए सर्वथा नया दृश्य था। कुछ इस विचित्रता पर हँसे, कुछ ने व्यंग्य किया—तुम कैसे विद्यार्थी हो? तुम्हें अप टू डेट रहना भी नहीं आता? कम-से-कम अपना पहनावा तो ऐसा बनाओ, जिससे लोग इतना तो जान सकें कि तुम एक बड़े विद्यालय के विद्यार्थी हो।

छात्र ने हँसकर उत्तर दिया—"अगर पोशाक पहनने से ही व्यक्तित्व ऊपर उठ जाता है तो पैंट और कोट पहनने वाला हर अँगरेज महान पंडित होते, मुझे तो उनमें ऐसी कोई विशेषता

दिखाई नहीं देती। रही शान घटने की बात तो अगर सात समुद्र पार से आने वाले और भारतवर्ष जैसे गरम देश में ठंढे मुल्क के अँगरेज केवल इसलिए अपनी पोशाक नहीं बदल सकते कि वह इनकी संस्कृति का अंग है, तो मैं ही अपनी संस्कृति को क्यों हेय होने दूँ? मुझे अपने मान, प्रशंसा और प्रतिष्ठा से ज्यादा धर्म प्यारा है, संस्कृति प्रिय है, जिसे जो कहना हो कहे, मैं अपनी संस्कृति का परित्याग नहीं कर सकता। भारतीय पोशाक छोड़ देना मेरे लिए मरणतुल्य है।"

लोगों को क्या पता था कि साधारण दिखाई देने वाला छात्र लौहनिष्ठा का प्रतीक है। इसके अंत:करण में तेजस्वी विचारों की ज्वालाग्नि जल रही है। उसने व्यक्तित्व और विचारों से विद्यालय को इतना प्रभावित किया कि विद्यालय के छात्रों ने उसे अपना नेता बना लिया, छात्र-यूनियन का अध्यक्ष निर्वाचित किया। इस विद्यार्थी को सारा देश गणेश शंकर विद्यार्थी के नाम से जानता है।

गणेश शंकर अपनी संस्कृति के जितने भक्त थे उतने ही न्यायप्रिय भी थे। इस मामले में किसी भी कठोर टक्कर से वह नहीं घबराते थे और न ही जातीय या सांप्रदायिक भेदभाव आने देते थे।

उन दिनों पोस्टकार्ड का टिकट काटकर कागज में चिपकाकर भेजना कानून-विरुद्ध न था। गणेश शंकर विद्यार्थी ने ऐसा ही एक टिकट चिपकाया हुआ पोस्टकार्ड प्रेषित किया। पोस्टल डिपार्टमेंट ने उसे बैरंग कर दिया। युवक ने इसके लिए फड़फड़ाती लिखा-पढ़ी की, जिससे घबराकर अधिकारियों को अपनी भूल स्वीकार करनी पड़ी।

न्याय और निष्ठा के पुजारी विद्यार्थी जी मानवीय एकता और सहृदयता के भी उतने ही समर्थक थे। इस दृष्टि से तो यह युवक-संत कहलाने योग्य है। अत्याचार वे किसी पर भी नहीं देख सकते थे। १९३१ में जब हिंदू-मुसलमानों के बीच दंगा

फैला तो गणेश शंकर जी ने बड़ी बहादुरी के साथ उसे मिटाने का प्रयास किया। जिन मुसलमान बस्तियों में अकेले जाने की हिम्मत अधिकारियों की भी न होती थी, वहाँ विद्यार्थी जी बेखटके चले जाते थे। कानपुर में उन्होंने हजारों हिंदू-मुसलमानों को कटने से बचाया।

दुर्भाग्य से एक धर्मांध मुसलमान के हाथों वह शहीद हो गए, पर अल्पायु में ही वह मानवीय एकता, न्याय और संस्कृतिनिष्ठा का जो पाठ पढ़ा गए, वह अभूतपूर्व है। उससे अनंत भविष्य तक हमारे समाज में गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे युवक जन्म लेते रहेंगे, तब तक भारतीय संस्कृति का मुख भी उज्ज्वल बना रहेगा।

❑

आदर्श पर अडिग—श्री विद्यासागर

बंगाल के लैफ्टिनेंट गवर्नर 'सर फ्रैडिक हैडिले' अपनी बैठक में उद्विग्न से टहल रहे थे। उनके मन में तरह-तरह के संकल्प-विकल्प उठ रहे थे। श्री ईश्वरचंद्र विद्यासागर को दिए हुए उनके आश्वासन के शब्द उन्हें बार-बार याद आ रहे थे। भारत के वायसराय लार्ड एलेनबरा के आज के पत्र ने उनको परेशानी में डाल दिया था। थोड़ी देर टहलने के बाद उन्होंने अपने प्राईवेट सेक्रेटरी को बुलाकर श्री विद्यासागर जी को बुलावा भिजवा दिया।

ईश्वरचंद्र जी की शिक्षण संबंधी सूझ-बूझ तथा व्यावहारिक योजनाओं से सारा देश परिचित हो चुका था, किंतु शिक्षा निदेशक से कुछ सैद्धांतिक मतभेद हो जाने के कारण उन्होंने सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया था। उनकी योग्यता से प्रभावित गवर्नर फ्रैड्रिक ने उन्हें समझाकर समझौता कराने का प्रयास किया। वह इतने दुर्लभ व्यक्ति को हाथ से नहीं जाने देना चाहते थे, किंतु ईश्वरचंद्र सैद्धांतिक व्यक्ति थे। उन्होंने नम्रतापूर्वक समझौते की बात से

इनकार कर दिया। उनका कहना था—"कार्यपद्धति में हेर-फेर किया जा सकता है—सिद्धांतों में नहीं। अनुशासन के नाते मुझको बड़े अधिकारी की बात माननी चाहिए, किंतु अपनी आंतरिक प्रेरणा की उपेक्षा भी तो नहीं की जा सकती है। अतः अकारण अप्रिय प्रसंगों से वातावरण विषाक्त बनाने की अपेक्षा मैंने स्वयं मार्ग से हट जाना ही अच्छा समझा। इस विषय में मुझ पर दबाव न डाला जाए, यही ठीक होगा। वैसे मैं हर सेवा के लिए तैयार हूँ।

हारकर सर फ्रैडिक उनसे बंगाल में शिक्षा-प्रसार के लिए कोई अच्छी योजना बनाने का आग्रह कर रहे थे। योजना को राजकीय स्तर पर कार्यान्वित करने का अपना विचार भी उन्होंने व्यक्त कर दिया। ईश्वरचंद्र जी ने यह कार्य सहर्ष स्वीकार भी कर लिया। एक विषय में किसी से मतभेद होने का यह अर्थ तो नहीं होता कि अन्य संभावित सहयोग के कार्यों में भी विरोध किया जाए? विचारक का विचार साधन-संपन्नों द्वारा प्रसारित किया जाना लाभकारी ही है। देश के उत्थान के लिए यदि विरोधी के साथ मिलकर भी कार्य करने में लाभ दिखता है तो किसी विचारशील को हिचकना नही चाहिए। विरोध व्यक्तियों से नहीं, विचारों से ही मानना उचित है। दस विचारों में मतभेद होने पर भी यदि एक में साम्य है, तो कोई कारण नहीं कि उसकी पूर्ति हेतु सम्मिलित प्रयास न करें। यह बात यदि आज के कथित देशवासियों की समझ में आ सके तो आधी से अधिक समस्याओं का समाधान देखते-देखते निकल आए।

श्री ईश्वरचंद्र जी ने बड़ी मेहनत के साथ एक योजना बनाकर गवर्नर साहब को दी। गवर्नर साहब ने उसे देखा तो बहुत प्रसन्न हुए। योजना की व्यावहारिकता देखकर उन्होंने आश्वासन दे दिया कि इसे राज्य के व्यय पर क्रियान्वित किया जा सकेगा और उस योजना को स्वीकृति हेतु वायसराय के पास भेज दिया। उन्हें

पूरी आशा थी कि इतनी अच्छी योजना अवश्य स्वीकार कर ली जाएगी।

किंतु उनकी आशा के विपरीत जब वायसराय ने उस पर नकारात्मक आदेश लिख दिया तो उन्हें बहुत चोट पहुँची। ईश्वरचंद्रजी ने उन्हें सांत्वना दी और कहा—"आप दुःख न मानो। मेरे कार्य अपनी सचाई के आधार पर स्वयं खड़े हो सकते हैं।" मेरी योजना में समाज के हित की शक्ति होगी तो वह अपने बल पर भी चल जावेगी और वास्तव में उनकी सार्वजनिक घोषणा पर उस योजना का जनता ने भारी स्वागत किया। शिक्षा-प्रेमियों ने भी अपना हर प्रकार का सहयोग उस हेतु दिया। योजना में बंगाल में शिक्षा का व्यापक प्रसार भी हुआ। उपयोगी योजना ने अपना मार्ग स्वयं बना लिया। ईश्वरचंद्रजी की वह बात आज भी सही है। अपने लाभ की बात जनता अभी भी स्वीकार कर सकती है। आवश्यकता है ऐसी योजना बनाने तथा उसे जनता को समझाने की।

❑

महामानव बनने में चरित्रबल का योगदान

मेसीडोन के राजा फिलिप अपने पुत्र सिकंदर को एक महान पुरुष के रूप में देखना चाहते थे। उसकी प्रतिभा, शक्ति, सामर्थ्य, क्रियाशीलता, धैर्य, साहस और सूझ-बूझ से वे अच्छी तरह परिचित हो गए थे, अब इस बात की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे कि किस व्यक्ति के पास अपने बच्चे को शिक्षा हेतु भेजा जाए, जो इसकी इन शक्तियों को कुमार्गगामी बनने से रोके और महामानव बनने की प्रबल प्रेरणा उत्पन्न कर सके। सोचते-सोचते उसकी नजर तत्कालीन महान दार्शनिक अरस्तू पर पड़ी, जो इस कार्य को कुशलतापूर्वक संपन्न कर सकते थे। सिकंदर उनकी पाठशाला में भेज दिया गया।

अरस्तू सिकंदर की विलक्षण प्रतिभा देखकर फूले न समाए। उनकी यह प्रबल इच्छा हुई कि इस बच्चे की शक्तियों को सन्मार्ग में विकसित करना चाहिए। यदि ऐसा हो सका तो निश्चय ही यह संसार के महान व्यक्तियों में से एक होगा।

शिक्षा के साथ-साथ गुरु का ध्यान गुण, स्वभाव और चरित्रबल की तरफ विशेष था। दार्शनिक अरस्तू यह जानते थे कि जीवन के महान विकास के लिए इन गुणों के विकास की नितांत आवश्यकता है। जिन दुर्गुणों से मनुष्य की शक्तियों का क्षरण होता रहता है, यदि उनका उन्मूलन न हो सका तो फिर शक्ति का स्रोत किसी अन्य मार्ग से निकलकर व्यर्थ हो जाएगा। फिर जीवन विकास के प्रयास निर्बल, निस्तेज और निष्प्राण हो जाएँगे।

इन्हीं बातों को सोच-सोचकर अरस्तू अन्य विद्यार्थियों के साथ-साथ सिकंदर के हर क्रिया-कलाप पर विशेष ध्यान रखते थे। उन्हें सिकंदर का उतना ही ध्यान रहता था, जितना किसी पिता को अपने एक होनहार पुत्र का रहता है।

एक बार सिकंदर का किसी स्त्री से अनुचित संबंध हो गया। अरस्तू को पता चल गया। उन्होंने सिकंदर को समझाया और डाँटा तथा इस रास्ते को छोड़ने का आग्रह किया। उस स्त्री को यह पता चला तो सोचने लगी कि यह अरस्तू ही मेरे संबंध में रोड़ा अटका रहा है। अतः ऐसा करना चाहिए, जिससे गुरु-शिष्य में शत्रुता हो। फिर बुरा काम आसानी से चलता रहेगा।

वह कुटिल नारी एक दिन अरस्तू के पास पहुँची और एकांत में मिलने का प्रस्ताव रखा। अरस्तू ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। जिस उद्यान में उन्हें मिलने के लिए बुलाया गया था, उसमें ठीक समय पर पहुँच गए।

मनोवैज्ञानिक अरस्तू यह जानते थे कि कोरी शिक्षा की अपेक्षा प्रमाणों का मनोभूमि पर अधिक प्रभाव पड़ता है। उन्होंने कुटिल चाल से लाभ उठाया। अरस्तू ने अपने अन्य शिष्यों द्वारा इस घटना

की सूचना सिकंदर तक भी पहुँचवा दी। साथ ही सूचना अरस्तू ने भिजवाई है, यह भेद न खुलने की कड़ी मनाही कर दी। सिकंदर आकर एक छिपे स्थान में टोह में बैठ गया।

कुछ समय बाद वह तरुणी आई। उसने अरस्तू के गले में बाहुपाश डाले और कहा—"क्या ही अच्छा होता, थोड़ी देर तक हम लोग क्रीड़ा-विनोद का आनंद लेते। अरस्तू की स्वीकृति मिल गई। युवती ने दार्शनिक अरस्तू को घोड़ा बनाया और पीठ पर चढ़कर उन्हें चलाने लगी। बूढ़ा घोड़ा युवती को अपनी पीठ पर बिठाकर घुटनों के बल चल रहा था। स्वाभिमानी सिकंदर जो जीवन में कभी झुकना नहीं जानता था, अपने गुरु की यह स्थिति अधिक देर तक सहन न कर सका और तुरंत सामने आकर कहा—"क्यों गुरुदेव! यह सब क्या हो रहा है?"

अरस्तू ने कहा—"देखते नहीं। मुझे यह माया किस तरह घुटनों के बल चलने को विवश कर रही है, फिर तुमको तो वह पेट के बल रेंगने को विवश कर देगी। सिकंदर को वस्तुस्थिति समझ में आ गई। उसने अपना मुँह मोड़कर चरित्र गठन में अपना सारा ध्यान लगा दिया, जिससे वह संसार का एक महान पुरुष—'सिकंदर महान' कहलाया।

❑

गुरुनानक की ईश्वरनिष्ठा

भौतिक अथवा आध्यात्मिक कोई भी क्षेत्र क्यों न हो, उसमें उन्नति करने के लिए लगन और एकाग्रता के साथ निष्ठा की आवश्यकता होती है। बिना सच्ची लगन और एकनिष्ठा के सिद्धि पा लेना संभव नहीं होता। गुरुनानक ने अपने लिए भक्ति का मार्ग चुना और अपनी निष्ठा के बल पर वे एक महान संत बने और समाज में उनकी पूजा-प्रतिष्ठा हुई। उनके जीवन की तमाम घटनाएँ उनकी इस निष्ठा की साक्षी बनी हुई हैं।

नानक जब किशोरावस्था में थे, तभी से वे अपने उद्देश्य की पूर्ति में लग गए। यह आयु खेलने-खाने की होती है। नानक भी खेला करते थे, पर उनके खेल दूसरों से भिन्न होते थे। जहाँ और लड़के गुल्ली-डंडा, गेंद-बल्ला, कबड्डी आदि का खेल खेला करते थे, वहाँ नानक भगवान की पूजा, उपासना का खेल और साथियों को प्रसाद बाँटते थे।

एक बार वे इस प्रकार के खेल में संलग्न थे। भोजन का समय हो गया। कई बार बुलावा आया, लेकिन वे खेल अधूरा छोड़कर नहीं गए। अंत में उनके पिता उन्हें जबरदस्ती उठा ले गए। भोग लगाकर प्रसाद बाँटने का खेल बाकी रह गया। नानक को खेल में विघ्न पड़ने का बड़ा दुःख हुआ, लेकिन उन्होंने न तो किसी से कुछ कहा और न रोए-धोए ही, तथापि वे गंभीरतापूर्वक मौन हो गए और भोजन न किया। बहुत कुछ मनाने, कहने और कारण पूछने पर भी जब नानक ने कुछ उत्तर नहीं दिया और खिलाने पर भी जब ग्रास नहीं निगला तो उनके पिता को चिंता हुई कि बालक को कहीं कोई बीमारी तो नहीं हो गई।

वैद्य बुलाकर नानक को दिखलाया गया। वैद्य आया और उसने भी जब पूछताछ करने पर कोई उत्तर न पाया और खिलाने से ग्रास स्वीकार नहीं किया तो उसने उनके मुँह में उँगली डालकर यह परीक्षा करनी चाही कि लड़के का गला तो कहीं बंद नहीं हो गया है। इस पर नानक से न रहा गया। वे बोले वैद्य जी! आप अपनी बीमारी का उपचार करिए। मेरी बीमारी तो वही ठीक करेगा जिसने लगाई है। नानक की गूढ़ बात सुनकर उनके पिता ने उनकी मानसिक स्थिति समझ ली और फिर उन्हें उनके प्रिय खेल से कभी नहीं उठाया।

इस प्रकार जब वे पाठशाला में पढ़ने के लिए भेजे गए, तब अध्यापक ने उन्हें तख्ती पर लिखकर वर्णमाला पढ़ानी शुरू की।

उन्होंने 'अ' लिखा और नानक से कहा—कहो 'अ'। नानक ने कहा 'अ'। उसके बाद अध्यापक ने 'अ' लिखा और कहा—कहो 'अ' नानक ने कहा—'अ' नाम भगवान का है। जब वही पढ़ लिया तो अब आगे पढ़कर क्या करूँगा?

अध्यापक ने समझाया तुम मेरे पास पढ़ने और ज्ञान सीखने आए हो। बिना विद्या पढ़े ज्ञानी कैसे बनोगे? नानक ने कहा कि आप तो मुझे समझ में आने वाली विद्या पढ़ाइए, जिससे परमात्मा का ज्ञान हो, उसके दर्शन मिलें। आपकी यह शिक्षा मेरे लाभ की नहीं है। अध्यापक ने फिर कहा— "यह विद्या यदि तुम नहीं पढ़ोगे तो संसार में खा-कमा किस तरह सकोगे? खाने कमाने के लिए तो यह विद्या पढ़नी जरूरी है।" नानक ने उत्तर दिया—"गुरुजी! आदमी को खाने के लिए चाहिए ही कितना? एक मुट्ठी अन्न। वह तो सभी आसानी से कमा सकते हैं, उसकी चिंता में भगवान को पाने की विद्या छोड़कर और विद्याएँ पढ़ने की क्या आवश्यकता? मुझे तो वह विद्या सिखाइए, जिससे मैं मूल तत्त्व परमात्मा को पाकर सच्ची शांति पा सकूँ।"

गुरुनानक की बातों में उनका हृदय, उनकी आत्मा और भगवान के प्रति उनकी सच्ची निष्ठा बोल रही थी। उनकी बातों का प्रभाव अध्यापक पर पड़ा जिससे कि वे दुनियादारी से विरत होकर भगवान के सच्चे भक्त बन गए। ऐसी थी नानक की निष्ठा और परमात्मा को प्राप्त करने की लगन। इसी आधार पर उनकी उपासना और साधना सफल हुई। वे एक उच्चकोटि के महात्मा बने। उनकी वाणी बोलती थी और उनका हृदय उसका मंदिर बन गया था। वे दिन-रात भगवान की भक्ति में तन्मय रहकर लोक-कल्याण के लिए उपदेश करते और लोगों को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते थे। उन्होंने अपना पूरा जीवन भगवान की भक्ति और संसार का

कल्याण करने में लगा दिया। हजारों-लाखों लोग उनके शिष्य बने। आज जो सिख संप्रदाय दिखलाई देता है, वह गुरुनानक के शिष्यों द्वारा ही बना है। निष्ठा और लगन में बड़ी शक्ति होती है। उसके बल पर सांसारिक उन्नति तो क्या भगवान तक को पाया जा सकता है।

❑

घृणास्पद—व्यक्ति नहीं, दुष्प्रवृत्ति

खेतड़ी नरेश ने स्वामी विवेकानंद को एकबार अपनी सभा में आमंत्रित किया। स्वामीजी वहाँ गए भी और लोगों को तत्त्वज्ञान का उपदेश भी किया। समाजसेवा का प्रसंग आया और वे समझाने लगे कि मनुष्य छोटा हो या बड़ा, शिक्षित हो या अशिक्षित उसका अस्तित्व समाज में टिका हुआ है, इसलिए बिना किसी भेदभाव के ईश्वर उपासना की तरह ही समाज सेवा का व्रत भी पालन करना चाहिए। उसमें कोई व्यक्ति छोटा नहीं होता, वरन उपासना की तरह सेवा भी मानव अंत:करण को विशाल ही बनाती है।

आगे की बात स्वामी जी पूरी नहीं कर सके, क्योंकि उधर से नर्तकियों का एक दल आ पहुँचा। सामंतों का स्वभाव ही कुछ ऐसा होता है कि उनका ध्यान उधर चला गया, इसलिए प्रवचन अपने आप समाप्त हो गया। इधर नर्तकियों के नृत्य की तैयारी होने लगी जैसे ही एक नर्तकी ने सभा.मंडप में प्रवेश किया कि स्वामी जी का मन घृणा और विरक्ति से भर गया। वे उठकर वहाँ से चल दिए। स्वामी जी की यह उदासीनता और किसी के लिए कष्टकारक प्रतीत हुई हो या नहीं, पर उस नर्तकी के हृदय को आघात अवश्य पहुँचा।

घृणा चाहे जिस व्यक्ति के प्रति हो, अच्छी नहीं। बुरे कर्मों का फलकर्त्ता आप भोगता है, भगवान की सृष्टि ही कुछ ऐसी है कि खराब काम के दंड से कोई भी बच नहीं सकता, पर यह दंडव्यवस्था उसी के हाथों तक सीमित रहनी चाहिए, वह सद्रष्टा है, पर मनुष्य

की पहुँच किसी के सूक्ष्म अंतःकरण तक नहीं, इसलिए उसे केवल कानूनी दंड का ही अधिकार एक सीमा तक प्राप्त है। घृणा तो दुश्मनी ही पैदा करती है, भले ही वह कोई दलित या अशक्त व्यक्तिं क्यों न हो! प्रतिशोध कभी भी अहित कर सकता है। स्वामी दयानंदजी के घात का कारण सच पूछो तो ऐसी घृणा ही थी जो मनुष्य के लिए कभी उपेक्षित नहीं।

नृत्य प्रारंभ हुआ। नर्तकी ने अलाप किया—"प्रभु मेरे अवगुण चित न धरो" और वह ध्वनि स्वामी जी के कानों में पड़ी। स्वामीजी चौंक पड़े। मस्तिष्क में जोर के झटके से विचार उठा—परमात्मा का आवाहन हम इसलिए तो करते हैं कि पाप परिस्थितियों के कारण हमारे अंतःकरण कलुषित हुए पड़े हैं, हम उनमें निर्मल और निष्पाप बनें। सामाजिक परिस्थितियों से कौन बचा है? यह बेचारी नर्तकी ही दोषी क्यों? मालूम नहीं समाज की किस अवस्था के कारण इस बेचारी को इस वृत्ति का सहारा लेना पड़ा अन्यथा वह भी किसी प्रतिष्ठित घराने की बहू और बेटी होती।

अब तक मस्तिष्क में जो स्थान घृणा ने भर रखा था, वह अब भस्मीभूत हो गया। अब स्वच्छ करुणा और विवेक का उदय हुआ—संसार में व्यक्ति घृणा का पात्र नहीं, वृत्ति को ही घृणित मानना चाहिए।

स्वामी विवेकानंद वापस लौटे, अपना स्थान पुनः ग्रहण किया। लोगों के मन में उनके प्रति जो श्रद्धा थी वह और द्विगुणित हो उठी। स्वामी जी जब तक नृत्य हुआ, कला की सूक्ष्मता और उससे होने वाली मानसिक प्रसन्नता का अध्ययन करते रहे। विद्यार्थी के समान उन्होंने संपूर्ण रास केवल अध्ययन दृष्टि से देखा, न कोई मोह था और न कोई आसक्ति। नृत्य समाप्त होने पर ही वापस अपने डेरे को लौटे।

इतनी भूल सुधार के कारण सभी सभासदों और नर्तकी को भी यह शिक्षा तो दी ही कि—"व्यक्ति को घृणास्पद न मानने का

अर्थ यह नहीं कि वृत्ति को भी घृणा न की जाए। उससे तो बचना ही चाहिए। आजीविका के लिए वह नर्तकी कला प्रदर्शन तो करती रही, पर उस दिन उसे स्वामी जी के प्रति श्रद्धा ने वासना से विरक्ति दे दी और उसने आजीवन व्रतशील जीवनयापन किया। सभासदों में से अनेक ने अपनी दोष-दृष्टि का परित्याग किया।''

❑

वह व्यक्तित्व-जिसने सबका हृदय जीता

महात्मा गांधी के व्यक्तित्व में एक विशेषता यह थी कि वह हर स्तर के व्यक्ति को प्रभावित कर लेते थे। बड़े लोगों के प्रति लोगों में सम्मान एवं श्रद्धा का भाव होता है, किंतु आत्मीयता नहीं होती। इसी प्रकार छोटों की विशेषताओं की प्रशंसा तो करते हैं, किंतु उनके प्रति समानता का व्यवहार नहीं कर पाते। गांधी जी में वह गुण था जिसके कारण वह समाज के हर वर्ग के साथ आत्मीयता का भाव स्थापित कर लेते थे तथा स्नेह एवं सम्मान दोनों समान रूप से प्राप्त कर लेते थे। वह वास्तव में जननेता कहे जा सकते थे और उनका जादू सर चढ़कर बोलता था। प्रस्तुत घटना से उनके व्यक्तित्व के इस पक्ष पर प्रकाश पड़ता है।

घटना दिसंबर सन् १९४५ की है। भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त होना लगभग निश्चित हो गया था। किसी परामर्श वार्ता के सिलसिले में बंगाल के गवर्नर श्री आर० जी० केसी ने महात्माजी को राजभवन में बुलाया था। श्री केसी प्रतिष्ठित आस्ट्रेलियायी राजनीतिज्ञ थे।

गांधी जी के वार्तालाप में उन्हें इतना रस आया कि वे भोजन का समय भी भूल गए। वार्ता के मध्य किसी का जाना मना था, अतः कोई याद दिलाने भी न जा सका। वार्ता समाप्त हुई तो बापू उठकर चल दिए। उन्हें पहुँचाने पीछे-पीछे गवर्नर महोदय भी

चल रहे थे। सामान्य शिष्टाचार के नाते भी तथा व्यक्तिगत रूप से गांधी जी से प्रभावित होने के कारण भी उनका ऐसा करना स्वाभाविक था।

बाहर जाने के मार्ग में जब वह दोनों बड़े हॉल में पहुँचे तो गवर्नर चौंक पड़े। उन्होंने देखा कि हाल में राजभवन के सारे-के-सारे कर्मचारी उपस्थित हैं। धोबी से रसोइए तक—चौकीदार व अन्य कर्मचारियों से लेकर माली तक, सब मिलाकर लगभग जिनकी संख्या २०० थी, सब के सब उपस्थित थे। सभी शांति के साथ दो लंबी कतारों में खड़े थे, मानो किसी को गार्ड ऑफ आनर देने की तैयारी हो। निश्चित रूप से उन्हें किसी ने एकत्र होने को नहीं कहा था। वह तो बापू के प्रति सहज श्रद्धा के कारण उनके दर्शनार्थ एकत्र हो गए थे। उनमें से अनेक तो काम करते-करते वैसे ही भागकर आ गए थे। ऐसी पोशाक में थे कि उस अवस्था में गवर्नर के सामने आना अनुशासनहीनता के रूप में दंडनीय था, किंतु यहाँ वह गवर्नर के लिए नहीं, अपने प्यारे बापू के लिए आए थे। बापू यहाँ से गुजरे तो सबने श्रद्धा के साथ अभिवादन किया। उनका अभिवादन स्वीकार करते हुए बापू अपनी मुस्कान से सबको संतोष देते हुए आगे बढ़ गए।

श्री केसी खोए-खोए से साथ थे। उन्हें कुछ कहते न बन पड़ रहा था। विचित्र वेशभूषा में कर्मचारियों को देख संकुचित भी थे तथा गांधीजी के प्रति अनुराग देखकर चकित भी। बोले—"गांधी जी! यकीन रखिए, मैंने उन्हें एकत्र होने के लिए नहीं कहा था। बापू उत्तर न देते हुए केवल मुस्कराकर विदा माँगकर चल दिए।"

श्री केसी को उस समय तक इस विषय में शंका थी कि भारत में विभिन्न संप्रदायों को एकसूत्र में बिना भय के बाँधा जा सकता है, किंतु गांधी जी का वह अनोखा गार्ड ऑफ आनर देखकर उनकी मान्यता बदल गई। उनके कर्मचारियों में अधिकांश मुसलमान व कुछ ईसाई भी थे। उन्होंने स्वीकार किया कि देश के हर वर्ग के हृदय में

गांधी जी ने इतना गहरा स्थान बना लिया है, इसकी उन्हें कल्पना भी नहीं थी।

जन-जन के अंत:करण में गांधी जी ने इतना महत्त्वपूर्ण स्थान कैसे पा लिया था, यह अध्ययन का विषय है। उन्होंने जी जान से सबके हित का प्रयास किया था। अपना सब कुछ जनता को देकर ही उन्होंने वह स्थान बनाया था, जो किसी भी जननेता कहलाने वाले के लिए शोभनीय है। बिना उसके थोथी वाहवाही भले ही कोई पा ले, न तो सही अर्थों में सबका स्नेह पा सकता है और न ही सफल नेतृत्व कर सकता है।

❑

बहादुर हो तो सचाई की राह पर बढ़ो

सन् १९२२ में अमावस्या की एक काली रात और वामक नदी का किनारा। गुजरात के प्रसिद्ध समाजसेवी रविशंकर महाराज नदी के किनारे पगडंडी पर आगे बढ़ते चल जा रहे थे। तभी उनके कंधे पर पीछे से हाथ रखते हुए किसी ने कहा—"महाराज! आप आगे कहाँ जा रहे हैं? चलिए वापस लौट चलिए।"

महाराज ने स्वर पहचान लिया, पूछा—"कौन है? पुंजा!"

"हाँ महाराज आगे मत जाइए। आगे खतरा है।"

"कैसा खतरा है?"

"आगे रास्ते में 'बहारबटिया' छिपे हैं।"

'कौन? "—नाम दरिया है।"

"हाँ वही है। मेरी राय है कि आप आगे न जाएँ। व्यर्थ में ही इज्जत देने से क्या लाभ होगा?"

महाराज हँसे। उन्होंने कहा—"भाई मेरी इज्जत इतनी छोटी नहीं है, जो थोड़ी सी बात में समाप्त हो जाए। मैं उन्हीं की तलाश में इधर आया था। चलो, अब तुम्हीं मुझे वहाँ तक पहुँचा दो, क्योंकि तुम्हारा सारा रास्ता देखा है और वह ठिकाने भी तुम्हें मालूम हैं, जहाँ यह लोग छिपे रहते हैं।"

"नहीं-नहीं, महाराज मेरी हिम्मत वहाँ जाने की नहीं है। अगर उन्होंने कोई हमला किया तो मैं आपको बचा भी न पाऊँगा और मेरे प्राण बेकार में चले जाएँगे।" इतना कह पुंजा ठिठक गया।

'अच्छा तो तुम रुको। मैं आगे जाता हूँ।' इतना कहकर महाराज आगे बढ़ गए।'

वह चलते-चलते एक खेत ही मेड़ पर खड़े हो गए। इतने में ही उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति साफा बाँधे बंदूक लिए उनकी ओर बढ़ता चला आ रहा है। जब दोनों के बीच की दूरी कम रह गई तो उसने सामने बंदूक तान दी।

अब महाराज खिलखिलाकर हँस पड़े। उन्हें वारदोली सत्याग्रह का स्मरण हो आया और उनका साहस दुगुना हो गया। वे बोले—"क्यों? क्या आज अकेले ही हो? तुम्हारे अन्य साथी कहाँ हैं?"

अब महाराज और बंदूकधारी दोनों ही पास की झोंपड़ी के निकट आ गए जहाँ अन्य डाकू छिपे थे। एक ने गरजकर कहा— "खबरदार! जो एक कदम भी आगे बढ़ाया......और महाराज लापरवाही से उसी ओर बढ़ने लगे जिस ओर से यह ललकार आई थी। सामने एक घुड़सवार डकैत ने आकर पूछा—"तुम कौन हो?"

"मैं गांधी की टोली का बहारबटिया हूँ। आओ हम लोग बैठकर बातचीत करें। मैं तुम सबको बुलाने ही तो आया हूँ।" इतना कहकर महाराज ने घोड़े की लगाम पकड़ने के लिए हाथ बढ़ा दिया।

सब लोग उसी झोंपड़ी के पास ही बैठ गए। महाराज ने समझाना शुरू किया—"भाइयो! यदि तुमको जौहर ही दिखाना है तो उन अँगरेजों को क्यों नहीं दिखाते, जिन्होंने सारा देश ही तबाह कर दिया है। इन गरीबों को लूटकर मरदानगी दिखाना तो लज्जा की बात है। अब गांधी जी के नेतृत्व में शीघ्र ही आंदोलन शुरू

होगा। यदि तुम में सचमुच पौरुष है, तो गोली खाने चलो। गांधी जी ने तुम सबको आमंत्रित किया है। यह कहते-कहते महाराज के नेत्र सजल हो गए। गला रुँध सा गया। डाकू इस अंतरंग स्नेह से आविर्भूत हो उठे।''

अपने हथियार डालते हुए उनके सरदार ने कहा—''आप निश्चिंत होकर जाइए। आज हम आपके गाँव में डाका डालने को थे, पर अब नहीं डालेंगे। साथ में एक आदमी भेज देता हूँ।''

महाराज ने कहा—''आप मेरी चिंता न करिए, मैं अकेला ही आया था और अकेला ही चला जाऊँगा। साथ देना है तो उस काम में साथ दो जिसे गांधी जी ने, भगवान ने हम सबको सौंपा है।''

डाकुओं में से कई ने कुकृत्य छोड़ दिया और कइयों ने सत्याग्रह आंदोलन में भारी सहयोग किया।

❑

मानवता के हित में महत्त्वाकांक्षा त्यागी

घटना उस समय की है, जब यमन के राष्ट्रपति अब्दुल्ला सलाल को अपदस्थ कर रिपब्लिकन नेता श्री रहमान हरयानी को सत्तारूढ़ किया गया। यह क्रांति रक्तहीन थी। बाद में प्रकाशित समाचारों से पता चलता है कि जनजीवन को रक्तपात और लूटमार से बचाने का संपूर्ण श्रेय अपदस्थ राष्ट्रपति सलाल को ही था।

इस युग में जबकि हर देश के नेता अपनी स्वार्थ-लिप्सा और महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए घृणित से घृणित कार्य करने से भी नहीं चूकते, श्री सलाल ने एक आदर्श सिद्धांत स्थापित किया है कि कोई बात मानवता के हित में होती है तो उसके लिए अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को ठुकराया भी जा सकता है। श्री सलाल के इस आदर्श ने उनकी खोई प्रतिष्ठा से भी अधिक उन्हें श्रेय और सम्मान दिलाया।

राष्ट्रपति सलाल जब सत्तारूढ़ थे, तभी उनकी कई नीतियों का यमन में तीव्र विरोध चल रहा था। जनचेतना की सामूहिक शक्ति आज के युग की प्रबलतम शक्ति गिनी गई है। संगठित व्यक्तियों के आगे वैसे भी किसी की चल नहीं सकती। यदि जनतंत्र में बौद्धिक जाग्रति हो तब तो उसका मुकाबला सेना और तलवारें भी नहीं कर सकतीं। यदि कुछ हो सकता है तो संघर्ष और रक्तपात अवश्य हो सकता है। यमन में उसी की तैयारी चल पड़ी थी और अब्दुल्ला सलाल को उस सबकी पूरी और पक्की जानकारी भी थी।

राष्ट्रपति सलाल सत्तारूढ़ थे, चाहते तो गृहयुद्ध करा देते। अपने अनेक विरोधियों को मारकर, वे उस अस्थिरता को समाप्त भी कर सकते थे, पर सिद्धांतवादी व्यक्ति अपने शत्रु के साथ भी अमानवीय व्यवहार नहीं करते, यह जो कुछ हो .रहा था वह तो उनके ही देशवासी कर रहे थे, उसके प्रति सलाल जैसा सहृदय व्यक्ति क्रूर एवं कठोर क्यों होता?

उन्होंने बगदाद और मास्को यात्रा का कार्यक्रम इसी उद्‌देश्य से बनाया। एक पक्ष जब निर्बल पड़ जाएगा तो गृहयुद्ध की स्थिति ही न आने पाएगी। विरोधी व्यक्ति यों ने समझा, यह सब विद्रोह के लिए अच्छा रहेगा। बाद में सही स्थिति का पता चला तो वह लोग, जिन्होंने श्री सलाल के विरुद्ध बगावत की थी, वह भी उनकी प्रशंसा किए बिना न रहे।

सबसे पहले 'अल अनवर' समाचारपत्र ने यह खबर देते हुए बताया कि श्री सलाल जब बगदाद यात्रा के लिए चलने लगे तो उन्होंने विद्रोही नेता श्री अनवर हरयानी को पत्र लिखा कि अपने देश को रक्तपात और दूसरे देशों के सामने शरमिंदगी से बचाने के लिए में देश छोड़ रहा हूँ। मैं अपने विरुद्ध की गई हर तैयारी से अवगत हूँ, किंतु अपनी प्रजा के अहित के साथ मेरा नाम जुड़े मैं यह कभी नहीं चाहता। आप मेरा स्थान ग्रहण करने के लिए चुने गए

हैं, तब तक आप गणराज्य बनाए रख सकते हैं। मैं पहला व्यक्ति हूँ, जो इस बात का स्वागत करता हूँ।

राष्ट्रपति सलाल ने इसके बाद शेष जीवन बगदाद में ही रहकर ईश्वर की उपासना और आत्मकल्याण में बिताने का निश्चय किया। सारे संसार के नेता ऐसे उदार और मानवता के हितैषी हो जाएँ तो रक्तपात की परिस्थितियाँ संसार में आएँ ही क्यों?

❑

शंकर मिश्र की माँ की प्रतिज्ञा

दरभंगा में एक तालाब है। उसे 'दाई का तालाब' कहते हैं। तालाब के निर्माण का इतिहास सज्जनता , ईमानदारी, कर्त्तव्यपरायणता और नैतिकता का जीता-जागता आदर्श है। उसे पढ़कर जीवन के निष्काम प्रेम की अनुभूति का आनंद मिलता है।

शंकर मिश्र जन्मे तब इनकी माता जी के स्तनों में दूध नहीं आता था। बच्चे को प्रारंभ से ही ऊपर का दूध दिया नहीं जा सकता था, इसलिए उसे किसका दूध दिया जाए? यह एक संकट आ गया।

एक धाय रखनी पड़ी। इस धाय ने शंकर को अपना बच्चा समझकर दूध पिलाया। मातृत्व का जो भी लाड़ और स्नेह एक माँ अपने बच्चे को दे सकती है, धाय ने वही स्नेह और ममता बच्चे को पिलाई। आज के युग में जब भाई-भाई एक दूसरे को स्वार्थ और कपट की दृष्टि से देखते हैं, तब तक साधारण स्त्री का यह भावनात्मक अनुदान स्वर्गीय ही कहा जा सकता है। संसार के सब मनुष्य जीवन के कठोर कर्त्तव्यों का पालन करते हुए भी यदि इस तरह प्रेम, कर्त्तव्यशीलता का व्यवहार कर सकें तो संसार स्वर्ग बन जाए।

शंकर मिश्र बढ़ने लगे। धाय उनकी सब प्रकार सेवा-सुश्रूषा करती, नीति और सदाचार की बातें भी सिखाती। सामान्य कर्त्तव्य-

पालन में कभी ऐसा समझ में नहीं आया, जब बाहर से देखने वालों को यह पता चला हो कि यह असली माँ नहीं है। धाय के इस आत्मभाव से शंकर की माँ बहुत प्रभावित हुई। एक दिन उन्होंने धाय की सराहना करते हुए वचन दिया—"तुमने मेरे बच्चे को अपने बच्चे जैसा पाला है, जब वह बड़ा हो जाएगा तो इसकी पहली कमाई पर तुम्हारा अधिकार होगा।" कुछ दिन बाद वह बात आई गई हो गई।

शंकर मिश्र बाल्यावस्था से ही संस्कृत के प्रकांड विद्वान दिखाई देने लगे। बाद में उनकी प्रतिभा ऐसी चमकी कि उनका यश चारों ओर फैलता गया। उनकी एकं काव्य-रचना पर तत्कालीन दरभंगा नरेश बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने दरबार में बुलाकर उनका बड़ा सम्मान किया और उपहारस्वरूप एक हार भेंट किया। इसे लेकर शंकर घर आए और हार अपनी माँ को सौंप दिया।

हार बहुत कीमती था, उसे देखकर किसी के भी मन में लोभ और लालच आ सकता था, पर यह सब सामान्य मनुष्यों के आकर्षण की बातें हैं। उदार हृदय व्यक्ति, कर्त्तव्यपरायणता और आदर्शों को ही जीवन मानने वाले सज्जनों के लिए रुपए-पैसे का क्या महत्त्व ? मानवता जैसी वस्तु खोकर धन, संपत्ति, पद-यश, प्रतिष्ठा कुछ भी मिले निरर्थक है, उससे आत्मा का कभी भला नहीं होता।

शंकर मिश्र की माता ने धाय को बुलाया और अपनी प्रतिज्ञा की याद दिलाते हुए वह हार उसे दे दिया। धाय हार लेकर घर आई। उसे शक हुआ हार बहुत कीमती है, तो उसकी कीमत जँचवाई। जौहरियों से पता चला कि उसकी कीमत लाखों रुपयों की है। लौटकर धाय ने कहा—"माँ जी मुझे तो सौ-दो सौ की भेंट ही उपयुक्त थी। इस कीमती हार को लेकर मैं क्या करूँगी? कहकर हार लौटाने लगी।"

पर शंकर की माँ ने भी दृढ़ता से कहा—"जो भी हो एक बार दे देने के बाद चाहे वह करोड़ की संपत्ति हो मेरे लिए उसका क्या

महत्त्व? हार तुम्हारा हो गया—जाओ। उन्होंने किसी भी मूल्य पर हार स्वीकार न किया।''

विवश धाय उसे ले तो गई पर उसने कहा—जो मेरे परिश्रम की कमाई नहीं उसका उपयोग करूँ तो वह पाप होगा। अतएव उसने उसे बेचकर एक पक्का तालाब बनवा दिया।

यह तालाब 'धाय का तालाब' के नाम से शंकर की माँ के वचन और धाय की उत्कृष्ट नैतिकता के रूप में आज भी लोगों को प्रेरणा देता है।

❑

हिम्मत इनसान की–मदद भगवान की

सन् १९३९ तब रूस के मुखिया स्टालिन थे। फिनलैंड के कई बंदरगाह रूस के लिए सामरिक महत्त्व के थे, इसलिए उन्होंने अपनी शक्ति के बल पर फिनलैंड को धमकी दी—''यह बंदरगाह रूस को दे दिए जाएँ? यदि फिनलैंड ने बात न मानी तो रूस शक्ति प्रयोग करना भी जानता है।''

वह वैसा ही अपराध था जैसे चोरी, डकैती, अपहरण या लूटपाट। यदि संसार में शक्ति और सैन्यबल ही सब कुछ हो तो फिर न्याय-नीति आदि सद्भावनाओं को प्रश्रय कहाँ मिले? पर किया क्या जाए? ऐसे लोग भी इस दुनिया में हैं, जो केवल शक्ति और उद्दंडता की भाषा ही समझते हैं। इनसे रक्षा भी हिम्मत से ही करनी पड़ती है। स्वल्प क्षमता के लोग साहसपूर्वक संघर्ष कर बैठते हैं तो उनकी मदद भगवान करता है। बाहर से दिखाई देने वाला राक्षसी बल तब जीतता है, जब अच्छाई की शक्तियाँ भले ही सीमित सही—संघर्ष करने से भय खा जाती हैं।

फिनलैंड की कुल २ लाख सेना रूस की ४० लाख की विशाल सेना और आधुनिक शस्त्रों के सामने जा डटी। रूसियों को

अनुमान था—प्रात: होते देर है फिनलेंड को जीतना देर नहीं, उनको यह आशा महँगी पड़ी।

एक स्थान पर फिनलैंड के एक सेनाधिकारी लेफ्टिनेंट हीन सारेला को नियुक्त किया गया। साथ में कुल ४९ सिपाही थे। हथियार भी उस समय के जब बंदूकें बनना प्रारंभ हुई थीं। रात से ही रूसी टैंकों की गड़गड़ाहट सुनाई देने लगी। रूसी सेना मार्च करती हुई बढ़ी चली आ रही थी।

४९ सैनिकों के आगे हजारों की सेना। सैनिकों ने हाथ ढीले कर दिए और कहा—भेड़िये-भेड़ का युद्ध नहीं होता। लड़ाना है तो हमें आप ही मार डालिए। युद्ध के मोर्चे पर आगे बढ़ना तो एक प्रकार से जान-बूझकर हमारी हत्या कराना है।

लेफ्टिनेंट सारेला का माथा ठनक गया। यह बात उसके अपने मन में आई होती तो वह गोली मार लेता—उसने कड़ककर कहा—"सैनिको! यह मत भूलो कि संसार में वही जातियाँ जीवित रहती हैं, जो संघर्ष से नहीं घबरातीं। जो बाह्य आक्रमण का मुकाबला नहीं कर सकते वह अपने सामाजिक जीवन में दृढ़ नहीं हो सकते। प्रतिरोध से घबराने वाले लोगों में अपने से ही उद्दंड और अभद्र लोग पैदा हो जाते हैं और सामाजिक शांति एवं व्यवस्था को चौपट कर डालते हैं। पाप, दुर्भाव, उद्दंडता और उच्छृंखलता मुरदा जातियों के जीवन में पाई जाती हैं। साहसी शूर-वीरों के राज्य में चोर, उठाईगीर क्या—डकैत, आतताई लोग भी मजदूरी करते हैं। उनमें अंधविश्वास और रूढ़वादिता नहीं, पौरुष और पराक्रम का विकास होता है, इसलिए वे थोड़े से भी हों तो भी संसार में छाए रहते हैं। निश्चय करो, तुम्हें पराधीनता का दलित जीवन जीना है या फिर शानदार जीवन की प्राप्ति के लिए संघर्ष की तैयारी करनी है।

सैनिकों के हृदयों में सारेला का तेजस्वी भाषण सुनकर विद्युत कौंध गई। हथियार उठा-उठाकर उन्होंने प्रतिज्ञा की—लड़ेंगे और रक्त की आखिरी बूँद तक संघर्ष करेंगे।

मुट्ठीभर जवान विकराल दानवी सेना से जूझ पड़े। ४९ जवान दिनभर कुछ खाए-पिए बिना जमीन में रेंगते शत्रुओं को मारते हुए आगे बढ़ते गए और जब उस दिन का युद्ध समाप्त हुआ तो संसार के अखबारों ने बड़े-बड़े अक्षरों में छापा—मुट्ठीभर फिनलैंड के सिपाहियों ने रूसी सेना की अग्रिम पंक्ति के बीस हजार सैनिकों को कुचलकर रख दिया। ५० गाड़ियों और १२० टैंकों को भी उन्होंने ध्वस्त करके रख दिया था।

सच है, जिंदादिल कौमें बुराइयों और अपराधों के आगे घुटने नहीं टेकतीं, उनसे लड़ पड़ती हैं और विजय पाती हैं। हिम्मत करने वाले इनसान की मदद भगवान करता है। स्टालिन जैसे सशक्त व्यक्ति ने भी इस पराजय को चमत्कार ही माना था।

❑

अंधविश्वास का परदा फाश

सिख संप्रदाय के दसवें गुरु—गोविंदसिंह एक महान योद्धा होने के साथ बड़े बुद्धिमान व्यक्ति थे। धर्म के प्रति उनकी निष्ठा बड़ी गहरी थी। वह धर्म के लिए ही जिए और धर्म के लिए ही मरे। धर्म के प्रति अडिग आस्थावान होते हुए भी वे अंधविश्वासी जरा भी न थे और न अंधविश्वासों को पसंद करते थे।

गुरु गोविंदसिंह सिखों का संगठन और शक्ति बढ़ाने की चिंता में रहते थे। उनकी इस चिंता से एक पंडित ने लाभ उठाने की सोची। वह गुरु गोविंदसिंह के पास आया और बोला—यदि आप

सिखों की शक्ति बढ़ाना चाहते हैं, तो दुर्गा देवी का यज्ञ कराइए। यज्ञ की अग्नि से देवी प्रकट होगी और वह सिखों को शक्ति का वरदान दे देगी। गुरु गोविंदसिंह यज्ञ करने को तैयार हो गए। उस पंडित ने यज्ञ कराना शुरू किया।

कई दिन तक यज्ञ होते रहने पर भी जब देवी प्रकट नहीं हुई तो उन्होंने पंडित से कहा—"महाराज!' देवी अभी तक प्रकट नहीं हुई।" धूर्त पंडित ने कहा—"देवी अभी प्रसन्न नहीं हुई है। वह प्रसन्नता के लिए बलिदान चाहती है। यदि आप किसी पुरुष का बलिदान दे सकें तो वह प्रसन्न होकर दर्शन दे देगी और बलिदानी व्यक्ति को स्वर्ग की प्राप्ति होगी।"

देवी की प्रसन्नता के लिए नरबलि की बात सुनकर गुरु गोविंदसिंह उस पंडित की धूर्तता समझ गए। उन्होंने उस पंडित को पकड़कर कहा—"बलि के लिए आपसे अच्छा आदमी कहाँ मिलेगा। आपका बलिदान पाकर देवी तो प्रसन्न हो ही जाएगी, आपको भी स्वर्ग मिल जाएगा। इस प्रकार हम दोनों का काम बन जाएगा। गुरु गोविंदसिंह का व्यवहार देखकर पंडित घबरा गया। गुरु गोविंदसिंह ने बलिदान दूसरे दिन के लिए स्थगित करके पंडित को एक रावटी में रख दिया।"

पंडित घबराकर गुर गोविंदसिंह के पैरों पर गिर पड़ा और गिड़गिड़ाने लगा—"मुझे नहीं मालूम था कि बलिदान की बात मेरे सिर पर ही आ पड़ेगी, गुरु जी, मुझे छोड़ दीजिए। मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ। गुरु गोविंदसिंह ने कहा—"अब क्यों घबराते हो? बलिदान से तो स्वर्ग मिलेगा, क्यों पंडित जी बलिदान की बातें तभी तक अच्छी लगती हैं, जब तक वह दूसरों के लिए होती हैं? अपने सिर आते ही असलियत खुल गई न।"

पंडित बोला—"इस बार क्षमा कर दीजिए महाराज। अब कभी ऐसी बातें नहीं करूँगा।" गुरु गोविंदसिंह ने उसे छोड़ दिया और समझाया—"इस प्रकार का अंधविश्वास समाज में फैलाना ठीक

नहीं। देवी अपने नाम पर किसी के प्राण लेकर प्रसन्न नहीं होती। वह प्रसन्न होती है अपने नाम पर किए गए अच्छे कामों से। बाद में गुरु गोविंदसिंह ने उसे रास्ते का खरच देकर भगा दिया।''

गुरु गोविंदसिंह ने सिखों को समझाया। किसी देवी-देवता के नाम पर जीव हत्या करने से न तो पुण्य मिलता है और न शक्ति। धर्म के नाम पर किसी जीव का प्राण लेना घोर पाप है। शक्ति बढ़ती है—आपस में प्रेम रखने से, धर्म का पालन करने से। शक्ति बढ़ती है—ईश्वर की उपासना करने से और उसके लिए त्याग करने से। शक्ति बढ़ती है—अन्याय और अत्याचार का विरोध और निर्बल तथा असहायों की सहायता करने से। सभी लोग एक मति और एक गति होकर संगठित हो जाएँ और धर्मरक्षा में रणभूमि में अपने प्राणों की बलि दें। देवी इसी सार्थक बलिदान से प्रसन्न होगी और आज के इसी मार्ग से मुक्ति मिलेगी। अंधविश्वास के आधार पर अपनी जान दे देने अथवा किसी दूसरे जीव की जान लेने से न तो देवी-देवता प्रसन्न होते हैं और न सद्गति मिलती है।

गुरु गोविंदसिंह के इन सार वचनों को सभी सिखों ने हृदयंगम किया। उस पर आचरण किया और अपने जीवन का कण-कण देश-धर्म की रक्षा में लगाकर ऐतिहासिक यश प्राप्त किया।

❑

सीमित से असीम जीवन की ओर

शंकराचार्य जी अपनी माता की इकलौती संतान थे। माता ने संतान प्राप्ति के लिए शिव की घोर तपस्या की। तपस्या के फलस्वरूप जो संतान मिली, उसका नाम शंकर रखा।

साधारण स्त्रियों की तरह वे भी यही स्वप्न देखा करती थीं कि कुछ ही दिनों में जब हमारा शंकर और बड़ा हो जाएगा तो उसका विवाह करूँगी। बहू घर में आएगी। हमारा घर भी कुछ ही दिनों में

नाती-पोतों से भरा-पूरा हो जाएगा। बहू की सेवाओं से हमें भी तृप्ति मिलेगी। जीवन की अंतिम घड़ियाँ सुख-शांति और वैभवपूर्ण ढंग से समाप्त होंगी। ज्यों-ज्यों शंकर बड़े होते जाते, माता का वह स्वप्न और भी तीव्र होता जाता।

जन्मजात प्रतिभा-संपन्न शंकर का ध्यान जप, तप, पूजा-पाठ और दूसरों की सेवा, सहायता में ही अधिक लगता था। ज्ञानार्जन करना और इस प्रसाद को दूसरों तक वितरित करने की एक आकांक्षा हृदय के एक कोने से धीरे-धीरे प्रदीप्त हो रही थी। समाज की दयनीय दशा देखकर, उन्हें तरस आ रहा था। समाज को एक प्रखर, सच्चे और एकनिष्ठ सेवक की उन्हें आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। ऐसे विषम समय में वे अपनी प्रतिभा को सांसारिक माया-जाल में फँसाकर नष्ट नहीं करना चाहते थे।

उधर माता बच्चे की ऐसी प्रवृत्ति को देखकर खिन्न हो रही थीं। वे अपने किशोर शंकर को यही समझाया करती थीं कि वह घर-गृहस्थी सँभाले, आजीविका कमाए और विवाह कर ले।

किशोर शंकर को माता के प्रति अगाध निष्ठा थी। वे उनका पूरा सम्मान करते थे और सेवा-सुश्रूषा में रंचमात्र भी न्यूनता नहीं आने देते थे। फिर भी अंतरात्मा यह स्वीकार न कर रही थी कि मोहग्रस्त व्यक्ति यदि अविवेकपूर्ण किसी बात का आग्रह कर रहा हो तो भी उसे स्वीकार ही कर लिया जाए। माता की ममता का मूल्य बहुत है, पर विश्वमाता-मानवता की सेवा करने का मूल्य उससे भी अधिक है। विवेक ने—"बड़े के लिए छोटे का त्याग" उचित बतलाया है। अंतरात्मा ने ईश्वर की अंतरंग प्रेरणा का अनुभव किया और उसी को ईश्वर का निर्देश मानकर शंकर ने विश्व सेवा करने का निश्चय किया।

माता को कष्ट न हो, स्वीकृति भी मिल जाए। ऐसा कौन सा उपाय हो सकता है—यही उनके मस्तिष्क में गूँजने लगा। सोचते-

सोचते एक विचित्र उपाय सूझा। एक दिन माता-पुत्र दोनों नदी में स्नान करने साथ-साथ गए। माता तो किनारे पर ही खड़ी रही, पर बेटा उछलते-कूदते गहरे पानी तक चला गया। वहाँ उसने अपने उपाय का प्रयोग किया। अचानक चिल्लाया—बचाओ! कोई बचाओ! मुझे मगर पकड़े लिए जा रहा है। बेटे की चीत्कार सुनकर माता घबरा गई। किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में उन्हें कोई उपाय ही न सूझ रहा था। बेटे ने माता से कहा—"माता मेरे बचने का एक ही उपाय अब शेष है। तुम मुझे भगवान शंकर को अर्पित कर दो। वही मेरी प्राण-रक्षा कर सकते हैं" मर जाने से जीवित रहने का मूल्य अधिक है। भले ही लड़का संन्यासी बनकर रहेगा—यह निर्णय करते माता को देर न लगी। उन्होंने भगवान शंकर की प्रार्थना की—"मेरा बेटा मगर के मुख से निकल जाए तो उसे आपको समर्पित कर दूँगी।" इतना कहते ही बेटे की आंतरिक प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। वह धीरे-धीरे किनारे पर आ गया।

इस प्रकार विश्वसेवा के प्रेम और मानवता की सेवा की सच्ची निष्ठा ने ममता और मोह पर विजय पाई। यह युवक शंकर-संन्यासी शंकराचार्य के रूप में धर्म एवं संस्कृति की महान सेवा में प्रवृत्त हुए।

❑

ऐसी सीख न दीजिए

सुप्रसिद्ध दार्शनिक कान्फ्यूशियस के बुद्धिमान शिष्य चाँग-होचाँग एक बार देश भ्रमण के लिए निकले। प्रजा की भलाई के लिए सामाजिक अध्ययन और उपयुक्त वातावरण का शोध इस भ्रमण का मुख्य उद्देश्य था।

घूमते-घूमते चाँग ताईवान पहुँचे। एक युवक माली कुएँ से जल निकाल रहा था, बाल्टी पानी निकालने और फिर ढोकर हर पौधे तक पहुँचाने में उसे बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ रहा था

तो भी काफी काम बाकी पड़ा था। चाँग को उस पर बड़ी दया आई। काफी देर सोचते रहे कोई ऐसा उपाय नहीं है क्या, जिससे माली का परिश्रम हलका किया जा सके।

विचार करें तो सैकड़ों वर्षों की सड़ी-गली परंपराएँ, रीति-रिवाज भी सगे-संबंधी की तरह चिपके कष्ट देते रहते हैं, पर विचार की एक छोटी सी चिनगारी भी उन्नतियों के राजमहल खड़ी कर सकती है। चाँग ने सोचा यदि लकड़ी की एक घिर्री बनाकर उसमें रस्सी लपेटकर खड़े-खड़े ही खींचने का प्रबंध हो जाए और यहीं से प्रत्येक वृक्ष तक के लिए नाली खोद ली जाए, तो माली का यथेष्ट श्रम बच सकता है। इतने ही परिश्रम में वह पहले से अधिक काम कर सकता है।

माली ने इस योजना के लाभ समझे और उसे मान लिया। ढेंकलीनुमा व्यवस्था हो गई। माली वहीं खड़ा-खड़ा पानी निकालकर पौधे सींचने लगा।

समय तो बचा, पर माली ने देखा उसके चलने-फिरने-झुकने-लचकने के कई व्यायाम अब नहीं रहे इसलिए शरीर के कुछ अंग शिथिल रहने लगे हैं, तो भी उसे इस बात का संतोष था कि तब से कुछ काम अधिक हो जाने से शरीर का हर अवयव कुछ न कुछ तो क्रियाशील हो ही जाता है इसलिए स्वास्थ्य में गिरावट की कोई विशेष चिंता नहीं हुई।

चाँग आगे बढ़ गए। बहुत दूर तक घूम चुकने के बाद वे फिर से उसी रास्ते वापस लौटे तो उनके मस्तिष्क में एक और बात याद आई कि यदि कुएँ में भाप से चलने वाली मशीन डाल दी जाए तो परिश्रम भी बिलकुल कम हो जाए और वृक्षों को जल भी खूब मिलने लगे। माली ने वह प्रस्ताव भी स्वीकार कर लिया। भाप का इंजन लग गया, माली को चैन हो गया।

काफी दिन बीतने के बाद एक दिन चाँग की इच्छा उस बाग को देखने की हुई, उनने सोचा था बगीचा अब लहलहा रहा होगा,

पर वहाँ जाकर देखा तो स्तब्ध रह गए। पूँछने पर पता चला, माली बीमार रहता है, इसलिए समय-बे-समय ही पानी मिल पाता है, इसी से पेड़-पौधे मुरझा रहे हैं।

चाँग माली को देखने उसके घर गए। सचमुच माली बीमार था। उसके हाथ सूख गए थे, टाँगे कमजोर हो गई थीं, पेट दो रोटी से ज्यादा नहीं पचा सकता था, माली का मुँह पीला पड़ गया था।

चाँग ने हँसकर पूछा—कहो भाई, अभी भी अधिक परिश्रम करना पड़ता है क्या? तो कोई और तरकीब सोचें। पास खड़ी मालिन ने कहा—"श्रीमान जी और तरकीब लड़ाने की अपेक्षा तो आप इन्हें ऐसी सीख दीजिए कि पहले की तरह फिर से अपने हाथ से ही काम करने लगें। ढेकली का आराम ही इनकी बीमारी का कारण है।" चाँग अपने एकांगी चिंतन पर बहुत पछताए, उन्होंने सोचा मनुष्य यांत्रिक और बिना परिश्रम के जीवन के आकर्षण में न पड़ता तो वह क्यों अस्वस्थ होता और क्यों रोगी? उनने माली को अपनी स्त्री की ही राय मान लेने की सीख दी और वहाँ से वापस चले आए। माली अपनी पूर्व जीवन पद्धति में आकर पुनः स्वस्थ हो गया, पर उसकी छूत आज की पीढ़ी को लग गई, जो मशीनों से काम लेकर स्वयं आराम से बैठा केवल कलम घिसना चाहता है। माली की तरह वह न तो उत्पादन बढ़ा पाता है और न बीमारी हटा पाता है। केवल मशीनें बढ़ रही हैं और मनुष्य उसमें निरंतर दबता-पिसता चला जा रहा है।

❑

गुरुनानक की सज्जनोचित उदारता

सिख संप्रदाय के आदिगुरु—नानक प्रारंभ से ही बड़े उदार और दयावान थे। किसी को कष्ट देना तो वे जानते ही न थे। संतों की सेवा और उनके सत्संग में उन्हें बड़ा आनंद आता था। जब कभी भी उन्हें इसका अवसर मिलता था तो उसका लाभ अवश्य

उठाते थे। उनके इन्हीं गुणों ने उन्हें एक उच्चकोटि का महात्मा बना दिया। उन्होंने अपना सारा जीवन लोगों को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देने में लगा दिया।

एक अच्छे ज्ञानी और संत होने पर भी गुरुनानक ने अपने आवश्यक कर्त्तव्यों से कभी मुँह नहीं मोड़ा। उन्हें जो भी काम दिया जाता था उसे करने में कभी संकोच नहीं करते थे। एक बार उनके पिता ने उन्हें खेती का काम करने के लिए नियुक्त किया। गुरुनानक ने उसे खुशी-खुशी स्वीकार कर लिया। उन्होंने अपने हाथ से खेती का सारा काम करके बड़ी अच्छी फसल तैयार की। पकने तक फसल की रखवाली करने का काम भी उन्हें सौंपा गया और वे फसल की रखवाली भी करने लगे।

एक बार कुछ गाएँ आकर फसल खाने लगीं, नानक ने उन्हें डाँटा, फटकारा और ललकारा, लेकिन गायों ने एक न सुनी और वे सारा खेत खा गईं। पिता को पता चला तो वे नानक पर बड़े नाराज हुए—बोले, "तूने गायों को भगाया क्यों नहीं?" नानक ने कहा—"मैंने तो उन्हें बहुत मना किया, डाँटा-ललकारा भी, लेकिन वे इतनी भूखी थीं कि मानी ही नहीं।" पिता ने और डाँटा और कहा—"बेवकूफ अगर वे ललकारने से नहीं भागीं तो चार-चार डंडे क्यों नहीं जड़ दिए?" नानक ने तुरंत उदास होकर उत्तर दिया—"भला मैं भूखी गौ माताओं को डंडे से मारने का पाप कैसे करता, वे बेचारी खुद तो खेती करती नहीं। आदमियों के ही सहारे रहती हैं। हमारी खेती में भगवान ने उनका भी अंश रखा होगा तभी तो आकर खा गईं।"

पिता ने नानक की अटपटी बातों में एक सार देखा और फिर उसके बाद कुछ नहीं कहा।

एक बार गुरु नानक खेत रखते हुए एक पेड़ की छाया में लेटे हुए थे। लेटे-लेटे उनकी आँख लग गई। तभी उधर से

गाँव का एक परिचित व्यक्ति निकला। वह क्या देखता है कि गुरुनानक सो रहे हैं उनके सिर पर एक सर्प फन फैलाए पास ही जड़ पर बैठा है। वह इस कौतुक को देखने के लिए थोड़ा आगे बढ़ा तो आहट पाकर सर्प चला गया। उस आदमी ने नानक को जगाया और सर्प वाली बात नहीं बतलाई, लेकिन इतना जरूर कहा बेटा! ऐसी-वैसी जगह बेखबर मत सो जाया करो।

उस व्यक्ति ने इस विषय में सुन रखा था कि जिसके सिर पर सर्प फन की छाया कर देता है, बड़ा भाग्यवान और भविष्य में बड़ा आदमी होता है। उसने यह घटना नानक के पिता को बतलाकर कहा—"भाई अपने लड़के से ऐसे-वैसे काम न लिया करो। यह बड़ा नक्षत्री आदमी है। संसार में बड़ा यश पाएगा। इसे किसी अच्छे काम में लगाओ।"

नानक के पिता ने उन्हें एक बार रुपए दिए और कहा—"तू बड़ा नक्षत्री बतलाया जाता है। आ, कुछ कार-रोजगार करके धन कमा तो जानूँ कि तू नक्षत्री है। भाग्यवान होगा तो खूब दौलत कमाकर बड़ा आदमी बन जाएगा।" गुरुनानक पैसा लेकर रोजगार करने चले तो रास्ते में सबसे पहले उनकी भेंट भूखे-नंगे भिखमंगों से हो गई। नानक को उनकी दशा पर बड़ी दया आई और उन्होंने उन गरीबों को भोजन कराया और कपड़े मोल ले दिए। जो कुछ पैसा बचा उसे लेकर आगे बढ़े तो अनेक साधु-संतों का साक्षात्कार हो गया। उन्होंने उनका सत्संग किया और उनकी बातों तथा शिक्षण में बड़ा सार पाया। नानक ने बहुत समय तक जी भर उनका सत्संग किया और सारा पैसा उनकी सेवा में खरच कर दिया। जब नानक सत्संग का लाभ उठाकर घर लौटे तो बिलकुल खाली हाथ थे।

पिता ने पूछा—बता क्या रोजगार किया! लाभ की आशा है या नहीं? नानक ने बड़े विश्वास से और हर्ष के साथ उत्तर

दिया—रोजगार तो मैंने ऐसा किया जिसका अवसर जल्दी-जल्दी किसी को मिलता नहीं और अगर मिलता भी है तो दुर्भाग्य से उसका साहस नहीं पड़ता। जहाँ तक लाभ की बात है सो तो लोक से परलोक तक और जन्म से जन्मांतर तक लाभ ही लाभ है।

पिता की कुछ समझ में नहीं आया बोले—साफ-साफ बतला क्या कमाई की और ला कमाई कहाँ है? नानक ने सारी घटना बतला दी तो पिता ने हताश होकर कहा—राम जाने तू कैसा नक्षत्री है? नानक के इन्हीं गुणों ने उन्हें एक विख्यात संत बनाकर संसार से तार दिया।

❑

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।